मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ४२९)

श्री हेमचन्द्राचार्य

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य विषयक संपादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका

संपादक : विजयशीलचन्द्रसूरि

२६

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद

2003

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)
'मुखरता सत्यवचननी विघातक छे'

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य-विषयक
संपादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका

२६

संपादकः
विजयशीलचन्द्रसूरि

श्रीहेमचन्द्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि
अहमदाबाद
डिसेम्बर - २००३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसंधान २६

आद्य संपादक : **डॉ. हरिवल्लभ भायाणी**

संपादक : **विजयशीलचन्द्रसूरि**

संपर्क : C/o. **अतुल एच. कापडिया**
A-9, जागृति फ्लेट्स, पालडी
महावीर टावर पाछळ
अमदावाद-३८०००७

प्रकाशक : **कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद**

प्राप्तिस्थान : (१) **आ. श्रीविजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मन्दिर**
१२, भगतबाग, जैननगर, नवा शारदामन्दिर रोड,
आणंदजी कल्याणजी पेढीनी बाजुमां,
अमदावाद-३८०००७

(२) **सरस्वती पुस्तक भंडार**
११२, हाथीखाना, रतनपोल,
अमदावाद-३८०००१

मूल्य : Rs. 50-00

मुद्रक :

क्रिश्ना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल
९६६, नारणपुरा जूना गाम, अमदावाद-३८००१३
(फोन : ०७९-७४९४३९३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवेदन

आ अंकमां छपायेली विज्ञप्ति प्रमाणे "जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास" तेना विद्यमान रूपमां ज पुनर्मुद्रित थवा जई रह्यो छे, ते प्रसंगे सहेजे ज सद्गत प्रा. जयन्तभाई कोठारीनुं स्मरण थाय छे. 'जैसासंइ' ए मोहनलाल दलीचंद देशाईनुं एक गंजावर तथा मातबर काम तो खरुं ज, पण साथे साथे एक ऐतिहासिक, दस्तावेजी अने शकवर्ती काम पण खरुं ज. एक ज व्यक्ति आटलुं मोटुं अने आटलुं बधुं सुग्रथित काम करी शके, एवी कल्पना करवानुं पण अशक्य लागे. विद्वान् होवानो जरा पण दमाम-देखाडो राख्या विना, सर्वथा प्रतिकूल जीवन-संजोगोनी सामे झूझतां-झझूमतां रहीने, मो.द.देशाईए जे साहित्यसेवा तथा जैन धर्मनी सेवा करी छे, ते अद्भुत छे, अपूर्व छे.

मो. द. देशाईना 'जैन गूर्जर कविओ'नुं पुनःसर्जननी कक्षानुं सम्पादन जयन्त कोठारीए कर्युं. ते पछी 'जैसासंइ'नुं पण पुनः सम्पादन करवानी तेमनी अभिलाषा हती. पोतानी नाजुक तबियतने कारणे केटलोक वखत तेमना मनमां आ कार्य परत्वे अवढव अवश्य रही, परन्तु छेवटे तेमनामां बेठेलो सम्पादक जीत्यो हतो, अने आ कार्य हाथ पर लेवानो तेमणे निर्धार कर्यो हतो. आ माटे करवी घटे ते समग्र पूर्व तैयारी तेमणे करी हती; ग्रन्थनी नकलो प्राप्त करवी, ग्रन्थना अक्षरशः वांचनमांथी पसार थवा साथे ते अंगे घटती नोंधो करवी, सम्पादनमां उपयुक्त सामग्री एकत्र करवी, अने विविध विद्वानोने आ ग्रन्थना सम्पादन अंगे तेमज पोतपोतानी दृष्टिए करवा घटता सुधारा-वधारा-फेरफार वगेरे अंगे सूचनो मोकलवा माटे परिपत्रो पाठववा वगरे घणी घणी पूर्वक्रियाओ जयन्तभाईए आदरेली. पोताना परिपत्रनो, एक के बे अपवादने बाद करतां, जवाब पाठववानी पण कोईए दरकार न लीधी होवा विषे फरियाद पण तेमणे करेली.

पण अफसोस ! आ कार्य पूर्ण गतिए आरंभाय ते पहेलां ज जयन्तभाईनो देहविलय थई गयो !

तेमना हाथे आ कार्य थयुं होत तो, 'जैगूक'ना नवसंस्करणमां आपणने जेम अनेक नवां वानां लाध्यां, तेम आ ग्रन्थमां पण अनेक प्रकारनुं दृष्टिसम्पन्न संमार्जन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संशोधन, पुनःग्रन्थन वगेरे लाधत, अने ''जैसासंइ''ना प्रकाशन पछीना दायकाओमां जे अतिविपुल काम थयुं छे तथा साहित्यिक सामग्री प्रकाशमां आवी छे, तेनो पण विनियोग तेमणे सुपेरे करी आप्यो होत.

आम छतां, आ अनन्य सन्दर्भग्रन्थ जेवा छे तेवा रूपमां पण ओछो उपयोगी तो नथी ज. वळी, आ ग्रन्थ आजे तो अलभ्यप्राय थयो छे. आवे वखते तेनुं यथावत् पुनर्मुद्रण थाय तो ते पण उपयोगी ज नीवडवानुं छे. अपेक्षा एटली ज रहे के आवा सरस सन्दर्भ ग्रन्थनो समुचित उपयोग आपणा विद्वान मुनिराजो, साध्वीजीओ तथा जैन-अजैन सर्व विद्वानो करवा लागे. अन्यथा आ ग्रन्थ ज्ञानभण्डारोनी-लायब्रेरीनी शोभा वधारनारो ज बनी रहेशे.

– शी.

आवरणचित्र : पुराणी पोथीमां अंकित सरस्वतीदेवीनुं चित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

आचार्य श्रीविजयनेमिसूरिरचित 'रघुवंश' टीकानी परिचयात्मक भूमिका	विजयशीलचन्द्रसूरि	१
आचार्यश्रीविजयनेमिसूरिविरचिता रघुवंश द्वितीयसर्गटीका ॥	सं. मुनिधर्मकीर्तिविजय	८
मातृका-श्लोकमाला	सं. म. विनयसागर	१०१
श्रीशत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटिका-स्तोत्रम् ॥	सं.आ. विजयअरविन्दसूरिः	११६
नेम-राजुल लेख	सं. डो. रसीला कडीआ	११९
श्री महावीरजिनस्तवन	सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	१२२
पत्रचर्चा	म० विनयसागर	१२९
नवां प्रकाशनो		१३१
विज्ञप्ति		१३१
एक स्पष्टता		१३२
महिती		१३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीविजयनेमिसूरिरचित 'रघुवंश' टीकानी परिचयात्मक भूमिका

विजयशीलचन्द्रसूरि

आचार्य श्रीविजयनेमिसूरिजी महाराज ए वीसमी शताब्दीना एक प्रभावक जैनाचार्य हता. तेमणे जैन तर्क तेम ज हैम व्याकरण साथे संबन्ध धरावता घणा ग्रन्थो तथा टीकाग्रन्थोनी रचना करी छे, जे महदंशे मुद्रित छे. तेमनी एक अप्रकाशित तेमज अपूर्ण रचना ते महाकवि कालिदासना 'रघुवंश महाकाव्य'ना द्वितीय सर्गनी टीका छे. फक्त ३० श्लोको उपरज रचायेली आ अधूरी टीका पण एटली तो विशद, विस्तृत, मर्मग्राही अने अर्थोद्घाटक छे के सहृदय भावकना हृदयमां, आनुं पठन-अध्ययन, एक विलक्षण बोधानन्द जन्मावी गया विना रहेतुं नथी.

पंचकाव्योनुं अध्ययन करवानी प्रणालिका, ए संस्कृत भाषा-साहित्यना अध्येताओनी सदीओ जूनी मान्य-सामान्य प्रणालिका रही छे. जैन मुनिसमुदाये पण आ प्रणालिकाने अत्यार सुधी अपनावी तथा जाळवी राखी हती. रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध अने नैषधीयचरित- आ बधां काव्यो भणवां-वांचवां ए पण एक रसानुभव छे. व्याकरण भण्या बाद अने तर्कग्रन्थोमां प्रवेशवा पूर्वे आ काव्यग्रन्थोनुं अध्ययन, व्युत्पत्ति माटे तथा संस्कृतना महासागरमां अवगाहन करवा माटे, अनिवार्य मनातुं. दुर्भाग्ये, आजनो, संकुचित धार्मिक मानस धरावतो साधुगण आ काव्योना अध्ययनथी विमुख बनी रह्यो छे; जेनुं परिणाम तेनी, संस्कृतज्ञ छतां अर्धदग्ध ज रही जती व्युत्पन्नताना स्वरूपे सतत जोवा मळे छे.

'रघुवंश' उपर एकाधिक जैन मुनिओए टीकाग्रन्थ रच्या छे, जे अद्यावधि अप्रकाशित छे. कोई रसिक अभ्यासी जन, ज्ञानभण्डारोमां सचवायेली आ टीकाग्रन्थोनी पोथीओने उकेले, सम्पादन करे, तो जैन टीकाकारोना संस्कृत साहित्य प्रत्येना मातबर योगदाननो विद्वानोने अंदाज अवश्य मळे; अने साथे ज, आ काव्यना जैन साधुओए साचवेला-स्वीकारेला शुद्धतर 'पाठ' पण सांपडे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूळ वात पर आवीए. श्रीविजयनेमिसूरि महाराज स्वयं आ बधां काव्योना ऊंडा अध्येता तो हता ज, साथे साथे पोताना अनेक शिष्योने तेमणे आ काव्यो भणाव्यां पण हतां. एवुं सांभळ्युं छे के तेओ ज्यारे आ काव्यो भणाववा बेसता, त्यारे एक एक श्लोक पर कलाको लेता. श्लोकना एकेक शब्दनी व्युत्पत्ति, तेनुं व्याकरण, तेना कोश, तेना सन्दर्भो, तेना अनेक अर्थो, तेनो मर्म-आ बधुं शोधवानुं तेओ शीखवता; अध्येताओ पासे शोधावता; अने एम करीने आखोये श्लोक खण्डशः तथा दण्डशः समजाई जाय, पछी तेना छन्द, अलङ्कार, रस अने तेना भावो वगेरेनी पण निरांतवी चर्चा करता. घणी वखत एक ज श्लोकने समग्रतया खोलवामां दिवसो वही जता. परन्तु परिणाम ए आवतुं के एमनी पासे आ रीते भणनारो शिष्य, ५-७ श्लोक भणे, एटले बाकीना समग्र महाकाव्यने उकेलवानी चावी अर्थात् क्षमता तेनामां स्वयमेव प्रगटी जती. आ वातमां भारोभार तथ्य होवानुं, प्रस्तुत टीकानुं अध्ययन करतां ज प्रतीत थाय तेम छे.

रघुवंशना प्रथम सर्गने न लईने बीजो सर्ग ज केम लीधो ? ते सवाल सहेजे थाय. तेना उत्तरमां बे कारणो कल्पी शकायः १. संस्कृत साहित्यना अभ्यासी, महाकाव्योना अध्ययननी एक परंपराथी वाकेफ हशे के 'रघुवंश' भणवानो शुभारम्भ बीजा सर्गथी ज कराय छे; प्रथम सर्ग भणाववामां आवतो नथी. शक्य छे के ए परंपरानो निर्वाह अहीं टीकाकारे कर्यो होय. २. टीकाकारनो मुख्य आशय 'काव्य-विवरण'नो न होतां, काव्यना आलम्बन द्वारा 'अहिंसा'ना परम तत्त्वने निरूपवानो होय, एम लागे छे. अलबत्त, काव्यना पारम्परिक विवरणमां तेओ क्यांय ऊणा ऊतरता नथी; बल्के मल्लिनाथ जेवा आरूढ टीकाकारने पण हंफावी दे तेवी सशक्त व्याख्या तेओ आपे छे. आम छतां, तेमनो निहित आशय, उपर सूचव्युं तेम, अहिंसातत्त्वना मर्मोद्घाटननो होय तेम लाग्या करे छे. ३०मा पद्यनी टीका अधूरी रही छे ते पूरी रचाई होत, अने ते पछीना सिंह अने दिलीप वच्चे थयेला संवादनी, सिंह द्वारा गोवध माटेना पडकार अने गायना दैवी रक्षणनी तथा ते पछीनी राजानी स्थितिनी वार्ता वर्णवतां पद्योनी टीका मळी होत तो, उपरनी सम्भावनानी तथ्यता वधु स्पष्ट थई शकत. तो, पोताना आ आशयने सिद्ध करवामां टीकाकारने मात्र बीजो सर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज उपयुक्त छे; प्रथम सर्ग हरगीज नहि; माटे पण तेमणे बीजा सर्ग उपर ज कलम चलावी होय, तो ते बनवाजोग छे.

रघुवंश जेवा महाकाव्य उपर टीका लखवा माटे केवी अने केटली सज्जता जोईए, तेनो अंदाज आ टीकाग्रन्थनुं अवलोकन करवाथी मळी रहे छे. एकेक शब्दोनी व्युत्पत्ति, प्रयोग-साधनिका, लिङ्गदर्शन, कोषनां समर्थन अने ते द्वारा अर्थनिश्चय, जुदां जुदां मतो-दर्शनो तथा तेना ग्रन्थसन्दर्भोनी तथा ग्रन्थकारोनी जाणकारी-इत्यादि केटली बधी बाबतोनुं ज्ञान, आवी टीका लखनारमां होवुं जोईए ! तेनो अणसार आ अपूर्ण रचना द्वारा पण मळी जाय छे. उदाहरण तरीके :-

प्रत्येक पद्यगत प्रत्येक शब्दनी व्युत्पत्ति अहीं, सिद्धहेम तेमज पाणिनीय एम बन्ने व्याकरणोना आधारे, सूत्रो,-उणादिसूत्रो- भाष्य-वार्त्तिक-धातुपाठ इत्यादिना स्पष्ट हवाला साथे, आपवामां आवी छे. मल्लिनाथसमेत अन्य टीकाकारोए केटलाक खास शब्दोनी ज व्युत्पत्ति आपी छे, ते पण व्याकरणादिना स्पष्ट सन्दर्भोपूर्वक नहीं ज; ज्यारे अहीं तो एक एक शब्दना ताणावाणा ससन्दर्भ छूटा पाडीने समजाव्या छे, जे आ टीकानी विलक्षण मौलिकता छे. समास होय त्यां पण, बन्ने व्याकरणना मते, जे जे प्रकारे समास थई शके ते बधा देखाडीने, अे स्थळे ग्राह्य बने तेवो समास तेमणे अलग तारवी बताव्यो छे. दा.त. श्लोक २मां 'धर्मपत्नी' शब्द-समासनी चर्चा.

कोषना सन्दर्भो पण पदे पदे आप्या छे. अभिधानचिन्तामणिनाममाला (हैम कोष), हैम शेष, अनेकार्थसंग्रह, अमरकोष, वैजयन्ती, मंख, शाश्वतकोष, विश्वलोचन कोष, यादव कोष - एम विविध कोषोना हवाला साथे, एकेक शब्दना तमाम अर्थो दर्शावे छे, अने छेवटे प्रस्तुत सन्दर्भमां ते शब्द कया अर्थमां प्रयोजायो छे, तेनुं निर्धारण-आपे छे. शब्दे शब्दे आटला कोषोना हवाला तथा अर्थोनो मेळावडो अन्यत्र भाग्ये ज जोवा मळे. दा.त. श्लोक १मां 'अथ' शब्दना अर्थनी चर्चा जुओ. वधुमां, शब्द तथा तेना अर्थना निश्चय माटे मात्र शब्दकोशोनो ज हवालो लीधो छे एवुं नथी; ते उपरांत, अनेक स्थळे, गीता, सांख्यकारिका, स्मृति, संगीतशास्त्र, इत्यादिना सन्दर्भो पण उद्धृत कर्या छे, अने तेना आधारे अर्थ-वर्णन तथा अर्थनिर्णय पण कर्या छे. दा.त. श्लोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ मां 'सत्त्व' शब्दनी चर्चा जुओ. वळी, 'सत्त्व' शब्दमां बे 'त' कार क्यारे प्रयोजाय, तेनी पण चर्चा त्यां करी छे.

तो तर्कसभर चर्चा पण आ टीकामां जोवा मळे छे. श्लोक १७मां प्रथम पद 'सः' छे. ए पदथी कोनो परामर्श करवो – ते मुद्दे टीकाकारे त्यां प्रारम्भमां ज मार्मिक तर्कवाद कर्यो छे, अने तें द्वारा 'सः' पदथी 'दिलीप'नो परामर्श करवानो छे तेम सिद्ध करी बताव्युं छे. एज रीते श्लोक १२नी टीकामां 'कीचक' पदनी व्याख्या करतां, अने श्लोक २९नी टीकामां 'गो' शब्दना प्रवृत्तिनिमित्तनी चर्चामां, संक्षेपमां ज छतां रसप्रद बने ते रीते तार्किक उन्मेषो दर्शाव्या छे.

श्लोक २९मां 'धातु' विषे अनेक सन्दर्भो सहित चर्चा करी छे, तेमां धातुविशेषो विषे वर्तमान विज्ञानना नियमो पण टांकी बताव्या छे, जे टीकाकारना, समसामयिक प्रतिपादनो विषेना, व्यापक अवगाहनना सूचक बनी रहे छे.

कोई पण ग्रन्थना विवरणकारने तेना पूर्वज विवरणकारोना रचेला विवरणनो टेको लेवानुं लगभग अनिवार्य होय छे. प्रस्तुत टीकाकारे पण 'मल्लिनाथ' जेवा प्रसिद्ध अने मान्य पूर्व सूरिना विवरणनुं आलम्बन अवश्य लीधुं ज होय. परंतु, मल्लिनाथना शब्दोना मर्मनुं पण क्वचित् एवुं रूडुं उद्घाटन आ टीकाकारे कर्युं छे के जे खूब रसप्रद बनी रहे छे. श्लोक १९मां 'उपोषिताभ्यां' शब्द आवे छे. तेमां 'दृष्टिना उपवास'नी वात छे– उपमा द्वारा त्यां टीकाकारे एक वाक्य नोंध्युं छे : 'यथा उपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति'. सम्भवतः आ वाक्य 'मल्लिनाथ'नुं छे. केमके टीकाकारे ते वाक्य उपर विवरण करतां मर्मोद्घाटन आ प्रमाणे कर्युं छे : "अनेनाऽर्थकरणेनाऽस्य वृत्तिकारो मल्लिनाथः चतुर्विधाहारत्यागरूप एव वास्तव उपवासः, न तु फलाहाररूप इति ज्ञापयति'. 'उपवास' विशेनी त्यां थयेली समग्र चर्चा पण मार्मिक अने तार्किक छे. श्लोक २३मां आवता 'निपीड्य' पद नो अर्थ मल्लिनाथे 'संवाह्य' नहि करीने 'अभिवन्द्य' एवो कर्यो छे, तेवो सूक्ष्म मर्म पकडीने टीकाकार नोंधे छे के 'अत्र स्त्रीपादसंवाहनमयुक्तं पुरुषस्येत्यभिसन्धाय अभिवन्द्येति (विवृतवान्) मल्लिनाथ इत्यनुमीयते' । आ वात पण केटली मार्मिक छे !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीकाकार एक जैन मुनि-आचार्य छे, अने तेमनो टीकारचनानो प्रमुख आशय, 'अहिंसा' अने तेवा अन्य पदार्थो परत्वे, 'रघुवंश' जेवा महाकाव्यना आलम्बनपूर्वक, जैन तत्त्वदृष्टिनुं प्रतिपादन करवानो छे, ते सुस्पष्ट जाणी शकाय छे-आ टीकाना अवलोकनथी. ए आशयमां टीकाकार केटला सफल थया छे, ते पण जोईए :

श्लोक १६मां 'अतिथि' अने 'क्रिया' शब्दो आवे छे. त्यां कोष अने अन्य आधारो प्रमाणे ते बन्नेना अर्थ तथा व्युत्पत्ति आपवानी साथे ज, जैन परिभाषा प्रमाणे 'अतिथि' कोने गणाय, अने देवता-अतिथि-पितृ आदि माटे करवानी 'क्रिया' कई होय- तेनुं पण प्रतिपादन कर्युं छे. ते प्रमाणे 'संसारत्यागी मुनिने ज अतिथि गणावेल छे, अने 'स्तवन-भक्ति-सत्कारादि'ने क्रिया तरीके वर्णवी छे. वळी, ए ज श्लोकना चोथा चरणमां 'श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना' एवो पद्यांश छे, तेनो संवाद जैनसम्मत 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ए सूत्र साथे सुयोग्य रीते टीकाकारे मेळवी बताव्यो छे. त्यां प्रासंगिक तार्किक चर्चा पण करी छे, अने जैन शास्त्रोमां 'ज्ञान' अने 'क्रिया' माटे जे खण्डनात्मक वाक्यो जोवा मळे छे, ते परस्पर निरपेक्ष एवा ते बन्ने परत्वे होई 'अर्थवाद' मात्र छे, तेवुं सरस तर्कसंगत समाधान पण करी आप्युं छे.

श्लोक २२मां 'भक्ति' शब्द आवतां, टीकामां जैनमतमां स्वीकृत 'भक्ति' पदार्थनुं विस्तारथी निरूपण करेल छे. तेमां अनेक संस्कृत-प्राकृत जैन ग्रन्थोनां उद्धारणो टांक्यां छे. भक्तिनी विविध विधाओ बतावी छे. दिगम्बर जैनो साथे अमुक विधामां मतभेद पडे छे, तेनी चर्चा सम्मतितर्कमांथी जोवानुं सूचन पण कर्युं छे. प्रसंगोपात्त, मिथ्याश्रुत एटले के जैनेतरोनां शास्त्रो पण जो सम्यक्त्ववंतो द्वारा परिग्रहाय तो ते सम्यक् ज्ञान बने छे, एवुं प्रतिपादन करतां तेना समर्थनमां भगवद्गीतानो श्लोक टांकीने 'योगवासिष्ठ' गत श्रीरामनी उक्तिने टांकी आपी छे. आ पछी 'गीता'ना सन्दर्भो तथा मल्लिनाथनी व्याख्या पण टांकेल छे. 'भक्ति' विषयक आ विस्तार भावकने माटे कदाच अप्रासंगिक बनी रहे तेवो भय जागे खरो.

श्लोक २३मां 'गुरु' शब्द आवतां तेनी टीकामां स्मृति, पुराण वगेरेना हवालापूर्वक 'गुरु'नी व्याख्या आप्या पछी, जैनमते हेमचन्द्राचार्य तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्रसूरिना ग्रन्थो तथा अन्य विविध जैन ग्रन्थोना सन्दर्भो आपीने 'गुरु'नी व्याख्या आपेल छे. तेमां प्रासंगिक एक मध्यकालीन गुजराती कवि 'अखा'नो छप्पो पण छे.

श्लोक २५मां 'व्रत'नुं स्वरूप, २६मां 'गङ्गाप्रपात-कुण्ड'नी वात तथा १६ विद्यादेवीनां नामो, २७मां 'मन'नुं स्वरूप, २८मां अन्य मतो प्रमाणे 'शब्द'नुं वर्णन कर्या पछी जैनमते तेनुं स्वरूप, 'साधु'नी व्याख्या तथा तेना सन्दर्भे पण्डितराज (जगन्नाथ)ना बे श्लोको, योगदृष्टिना ८ प्रकारोनी वात, - आ अने आवी अनेक वातो जैनमतने अनुसारे पण टीकाकारे आलेखी छे, जे अध्येताओने जैन दृष्टिबिन्दु समजवामां खूब उपयोगी बनी रहे तेवी छे.

श्लोक २९मां 'गो' अर्थात् 'गाय'ना विविध प्रकारो, नामो अने तेनी व्याख्याओ छे, तो 'गो' शब्दना विविध अर्थो पण तेनां उदाहरणो साथे टीकाकारे नोंध्या छे, जे अपूर्व छे. ए ज रीते 'धातु'नी पण अनेक जातिओ तथा तेनी व्याख्याओ अहीं संग्रही छे, ते पण नोंधपात्र गणाय.

श्लोक ३०मां हिंसा-अहिंसानी चर्चा आवे छे. ते प्रसंगे टीकाकार 'जैनमतमां जेवुं आ बन्नेनुं स्वरूप छे तेवुं अन्य कोई मतमां न होवानुं, खुल्लुं प्रतिपादन करीने पछी बौद्ध मत, मनुस्मृति वगेरेना सन्दर्भो टांके छे; तेनां विविध अर्थघटनो नोंधे छ; हिंसाने धर्म प्ररूपती 'श्रुति' अने 'स्मृति'नी अप्रमाणता पुरवार करे छे; अने ते पछी महाभारत, भागवत, शिवपुराण वगेरेना सन्दर्भो टांकीने 'अहिंसा' ज धर्म छे, आचार छे, हिंसा नहि, तेवुं भारपूर्वक स्थापित करी आपे छे.

आ पछी टीकाकार, पोतानुं आ विषयनुं अवगाहन केटलुं व्यापक छे तेनो अणसार आपता होय तेम, जरथोस्ती-पारसी धर्मना धर्मग्रन्थोनां अहिंसापरक वचनो टांकीने तेनुं अर्थघटन आपे छे; लोटीया वोरानी तेमज महम्मदीय अर्थात् मुसलमान (इस्लाम) धर्मनी मान्यताना ग्रन्थो (कुरान आदि)नां वचनो (आयतो) टांकी तेना अर्थ समजावे छे; अने छेवटे ख्रिस्ती संप्रदायना बाइबल वगेरेनां उद्धरणो टांकीने तेना अर्थ वर्णववा द्वारा पण हिंसा त्याज्य छे. अने अहिंसा ज धर्म छे तथा आचरणीय छे, एम पुरवार करी बतावे छे.

अने आ साथे ज टीकानो छेडो आवे छे. आ वखते थाय के हजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ टीका आगळ रचाई होत तो केटला बधा पदार्थो प्राप्त थात ! अस्तु. जेटली मळी छे ते पण ओछी तो नथी ज.

*

आ टीकानी हस्तप्रतिओ वर्षो पूर्वे पूज्यपाद आचार्य श्रीविजयनन्दनसूरिजी महाराजे मने आपी हती, साचववा माटे. तेनुं प्रकाशन करवानी झंखना वर्षोथी हती, ते आजे 'अनुसन्धान'ना माध्यमथी सफल थाय छे तेनो आनन्द छे. आनी प्रतिलिपि तथा टिप्पणी वगेरेनुं कार्य मुनि धर्मकीर्तिविजयजीए कर्युं छे. विद्वानो तथा अभ्यासीओने रस पडे तेवुं घणुंबधुं आ टीकामां छे, तेओ आना पर अभ्यासलेखो आपे तेवुं इच्छुं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्रीविजयनेमिसूरिविरचिता

रघुवंश द्वितीयसर्गटीका ॥

सं. मुनिधर्मकीर्तिविजय

**अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥**

अथेति । अथ - कुलपतिनिर्दिष्टपर्णशालायां निशानयनानन्तरम् । कुलपतिस्वरूपं चेदं **पुराणे**-

"मुनीनां दशसाहस्रमन्नदानादिपोषत: (षणात्) ।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥१॥"

प्रकर्षेण भातीति प्रभातं, यदि वा भातुं प्रवृत्तं प्रभातम् । 'भांक्-दीप्तौ' इति धातोः 'आरम्भे' (**सि.** ५।१।१०॥) इति 'क्त' प्रत्यये सिद्धम् । **'पाणिनि'** मते तु 'भा-दीप्तौ' धातोः 'आदिकर्मणि (१) कर्तरि च' (३।४।७१॥) इति सूत्रेण 'क्त'प्रत्यये प्रभातम् । "प्रभातं स्यादहर्मुखम्, व्युष्टं विभातं प्रत्यूषं कल्यप्रत्यू(त्यु)षसी उषः, काल्यम् ॥ इति **हैमः**[१] । तस्मिन् **प्रभाते**-प्रातःकाले । यश एव धनं यस्य स यशोधनः । प्रकर्षेण जायन्त इति, प्रजाता इति वा प्रजाः । प्रपूर्वात् 'जनैचि-प्रादुर्भावे' इति धातोः 'क्वचित्' (५।१।१७१॥) इति **'हैम'**सूत्रेण 'ड' प्रत्यये 'डित्यन्त्यस्वरादेः' (२।१।११४॥) इति **'हेम'**सूत्रेणाऽन्त्यस्वरादिलोपे 'आत्' (**सि०** (२।४।१८॥) इति सूत्रेण । 'ड' प्रत्यये 'टेः' (**पा०** ६।४।१४३॥) इति सूत्रेण टिलोपे । 'अजाद्यतष्टाप्' (**पा०** ४।१।४॥) इति सूत्रेण टापि प्रजाः । "लोको जनः प्रजा" इति **हैमः**[२] । "प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" (**इत्यमरः**) । तासां **प्रजानाम्** । अधि पाति, अधि समन्तात् पातीत्य**धिपः** प्रजेश्वरः । अधिपूर्वात् 'पा(पां)क्-रक्षणे' इति धातोः 'उपसर्गादातो डोऽश्यः' [**सि०**] (५।१।५६॥) इति सूत्रेण 'ड' प्रत्यये 'डित्यन्त्यस्वरादेः' [**सि०**] (२।१।११४॥) इत्यन्त्य-

---

१. अभिधानचिन्तामणिकोशे द्वितीयकाण्डे- १३८-१३९ ।

२. अभिधानचिन्तामणिकोशे तृतीयकाण्डे- ५०१ ।

३. अमरकोशे तृतीयकाण्डे नानार्थवर्गे - २३९८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरादिलोपे **अधिपः** । '**पाणिनिमते** तु 'पा-रक्षणे' धातोः 'आतश्चोपसर्गे' (३।१।१३६।।) इति सूत्रेण 'क' प्रत्यये 'आतो लोप इटि च' (६।४।६[४]।।) इति सूत्रेणाऽऽकारलोपेऽ**धिपः** । अधिप ईश्वरः । "अधिपस्त्वीशो, नेता परिवृढोऽधिभूः, पतीन्द्रस्वामिनाथार्याः, प्रभुर्भर्तेश्वरो विभुः, ईशितेनो नायकश्च" इति **हैमः**[१] ।

जायतेऽस्यां वेति जाया । प्रतिग्राह्येते स्मेति प्रतिग्राहिते । माला एव माल्यम्, अथवा मालायै हितं माल्यम् । गन्धश्च माल्यं च गन्धमाल्ये । जायया -सुदक्षिणया प्रतिग्राहिते-स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां **जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्** । तथोक्ताम् ।

'**सिद्धे(द्ध)हेम**'मते 'गत्यर्थाऽकर्मक-पिबभुजेः (५।१।११।।) इति सूत्रेण सूत्रोक्तधात्वतिरिक्तधातुभ्यः कर्तरि क्तप्रत्ययस्य विधानाभावात् न तु कर्तरि क्तः । अत एव **भाष्यकारः** "पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणा इत्यादावकारो मत्वर्थीयः" इत्युक्तवान् । भावे 'क्त' प्रत्यये पीतं पानं तदस्याऽस्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । 'अभ्रादिभ्यः' (७।२।४६।।) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रेण 'अ' प्रत्ययः । 'अर्शादि (र्शआदि)भ्योऽच्' [५।३।१२७।।] इति '**पा०**' सूत्रेण 'अच्' प्रत्ययः । अथवा विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्य इति '**वार्तिककार**' मते उत्तरपदस्य पयसो लोपोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्र संज्ञायामेव पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति वार्तिककाराशयः । तत्संवादिसंज्ञायामेव पूर्वोत्तरपदलोपविधायि सिद्धहेमशब्दानु-शासनस्थं 'ते लुग्वा' (३।२।१०८।।) इति सूत्रम् । इममेवाऽऽशयं बुद्ध्वा **कैयटो** लोपशब्दार्थमाह- 'गम्यार्थप्रयोग एव लोपोऽभिमतः ।' पयसो यत्पीतत्वं तद् गोष्वारोप्यते । एतन्मते पीतं पयो येन स पीतः । प्रतिबद्ध्यते स्मेति प्रतिबद्धः । पीतश्चासौ प्रतिबद्धश्च पीतप्रतिबद्धः । अर्थात् पूर्वं पीतः पश्चात् प्रतिबद्धः पीतप्रतिबद्धः । पीतप्रतिबद्धो वत्सो यस्याः सा प्रीतप्रतिबद्धवत्सा, तां **पीतप्रति-बद्धवत्साम्** ।

'**सिद्धहे०श०**' मते 'ऋषैत्-गतौ 'पाणिनीय' मते च 'ऋषी गता' विति धातोः ऋषतीति ऋषिः । ऋषिः 'मन्त्रद्रष्टरि मुनौ वेदे अनुष्ठेयज्ञापकसूत्र-कृदाचार्ये गोत्रप्रवरप्रवर्तके मुनौ च' वर्तते । तस्य **ऋषेः** । '**श्री सि०हे०**' मते

---

१. अभि० चि० तृ० ३५८-३५९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ट्धें-पाने' **'पाणि०'** मते च 'धेट्-पाने' इति धातोः धयति तामिति धेनुः । यद्वाऽन्तर्भावितण्यर्थत्वे धयति सुतानिति धेनुरित्यपि संभवति । धेनुः नवप्रसूतायां गवि । तां **धेनुम्** । **वनाय** गन्तुं 'गम्यस्याऽऽप्ये' (२।२।६२॥) इति **'श्री सि०हे०'** सूत्रेण 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' [२।३।१४॥] इति च **'पाणि०'** सूत्रेण चतुर्थी । **मुमोच**-मुक्तवान् । अत्र जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथा हि-

"पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वेह मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा, दशमे मासि जायते ॥
तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः ॥" इति ।

यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद् राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते ।

अस्मिन् सर्गे वृत्तमुपजातिः । "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति तल्लक्षणम् ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्-

अथ प्रभाते यशोधनेन प्रजानामधिपेन जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या पीतप्रतिबद्धवत्सा ऋषेर्धेनुर्वनाय मुमुचे ॥

प्रभातसमये नृपमहिषी सुदक्षिणा मालाचन्दनादिभिर्नन्दिनीं सम्यक्तया-ऽर्चयामास । वत्सं च प्रथमं स्तन्यं पाययित्वा पश्चाद् बबन्ध । ततो यशःपरायणः स दिलीपो वने स्वच्छन्दगमनाय तां नन्दिनीं मुक्तवान्, इति सरलार्थः ।

अथ सर्गारम्भेऽथशब्दप्रयोगपूर्वकसर्गप्रारम्भयित्रा ग्रन्थकारेण 'ओंकाराथ-कारौ' **इत्यादिशुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्यीयकाः(क) १७** सूत्रस्य **'भाष्यकारो-वट्टाचार्येणा**ऽर्थोऽकारि यत्, मङ्गलार्थावेतावित्यर्थकरणादपि सर्गप्रारम्भे अथशब्देन मङ्गलपूर्विका द्वितीयसर्गस्य प्रवृत्तिरिति दर्शितम् । "मङ्गला-नन्तरारम्भ-प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथ" इति [अमरः][1] कोशवाक्यादनन्तरार्थोऽप्यथशब्दः तेन निशानयनानन्तरमित्यप्यावेदितम् । एवमेवा"ऽथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा" **इत्युत्तर-मीमांसाग्रन्थे**ऽनन्तरार्थोऽथशब्दः । आरम्भार्थस्तु "अथ योगानुशासनम्" इत्यत्र **पातञ्जलयोगदर्शन**शास्त्रे । प्रश्नार्थ-कार्त्स्न्यार्थयोस्तु प्रसिद्ध एव । अत्र तु

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे- २८२९ ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

मङ्गलार्थोऽनन्तरार्थो वा, यदा तु मङ्गलार्थस्तदा मङ्गलपूर्विका द्वितीय-सर्गप्रवृत्तिरित्यावेद्यते यदा त्वनन्तरार्थस्तदा कुलपतिनिर्दिष्टपर्णशालायां निशानयनानन्तरमित्यावेदितम् ।

केचिदारम्भार्थं न मन्यन्ते । **कुत्रचिद**धिकारार्थोऽपि । **योगशास्त्र-भाष्यकारेण** 'अथे'त्ययमधिकारार्थ इति भाष्यव्याख्यानादधिकारार्थोऽपि ॥१॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसु-मपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवाऽर्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥

तस्या इति । पांसवो दोषा पापानि वा सन्त्यासामिति पांसुलाः-स्वैरिण्यः । 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः[१] । 'सिध्मादिक्षुद्रजन्तुरुग्भ्यः' (७।२।२१॥) इति '**श्री सि०**' सूत्रेण 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७॥) इति '**पाणि०**' सूत्रेण च पांसुशब्दात् लच्प्रत्ययः । न पांसुलाः अपांसुलाः । ता**सामपांसुलानां**-पतिव्रतानाम् । **धुर्यग्रे** । कीर्तियतुं योग्या **कीर्तनीया**-परिगणनीया ।

ईष्टे ईशितुं शीलमस्य वेति ईश्वरः । मनुष्याणामीश्वरः मनुष्येश्वरः । 'हितादिभिः' (३।१।७१॥) इति '**श्री सि०**' सूत्रेण हितादेराकृतिगणत्वात्तादर्थ्य-चतुर्थ्यन्तस्याऽपि समासभवनात् धर्माय धर्मार्थं वा पत्नी धर्मपत्नी । एवमश्वघासादौ सर्वत्र । 'यत्र प्रकृतिविकृतिभावस्तत्रैव तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य समास' इति '**पाणिनीय**'मते तु अश्वघासादिवत् धर्मपत्नीत्यत्राऽपि तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकार- भावाभावात् । तन्मते धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी ।

यथा- "पतिं धर्मरतं पत्नी साध्वी शुश्रु(श्रू)षते तु या ।
नित्यं त्वनन्यहृदया धर्मपत्नीं तु तां विदुः ॥१॥"

मनुष्येश्वरस्य धर्मपत्नी **मनुष्येश्वरधर्मपत्नी** । न्यसनानि न्यासाः । पूयते एभिरिति पवित्राः । खुराणां न्यासाः खुरन्यासाः । खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य स खुरन्यासपवित्रपांसुः, तं **खुरन्यासपवित्रपांसुम्**-शफनिक्षेपपूतरेणुम् । "शफं क्लीबे खुरः पुमान्" इत्यमरः[२] । "रेणुर्द्वयोः स्त्रियो(यां) धूलिः पांसु(शु)र्ना न द्वयो रजः" इत्यमरः[३] । **तस्याः** धेनोः । मार्ग्यतेऽन्विष्यतेऽनेनेति मार्गः । तं **मार्गम्** ।

---

१. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १०५९ । २. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १५६६ ।
३. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १६६४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मर्यते धर्मोऽनयेति **स्मृतिः**, मन्वादिवाक्यम् । श्रूयते धर्मोऽनयेति श्रुतिः, तस्याः **श्रुतेः** वेदवाक्यस्य । अर्यते इति अर्थः, तं **अर्थम**भिधेयम् । **इव अन्वगच्छत्**-अनुसृतवतीव । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवाऽर्थमनुसरति तथा साऽपि गोक्षुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । पांसुलपथप्रवृत्तावपि अपांसुलानामिति 'विरोधालङ्कारो' ध्वन्यते । तल्लक्षणं चेदं **कुवलयानन्दे**-

'आभासत्वे विरोधस्य, विरोधाभास इष्यते ।'

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - अपांसुलानां धुरि कीर्तनीयया मनुष्येश्वरधर्मपत्न्या खुरन्यासपवित्रपांसुः तस्याः मार्गः श्रुतेः अर्थः स्मृत्या इवाऽन्वगम्यत ॥

पावनैः खुरक्षेपैः नन्दिनी मार्गरजो निर्मलीकुर्वाणा जगाम । यथा हि स्मृतिः वेदार्थमेव सर्वदाऽनुगच्छति तथा पतिव्रताऽग्रगण्या दिलीपपत्नी सुदक्षिणा तं नन्दिनीमार्गमनुससार, इति सरलार्थः ॥२॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्मी(र्वी)म् ॥३॥

निवर्त्येति । दयते इत्येवं शीलः दयते इत्येवं धर्मा(र्मो) वा, यद्वा साधु दयते इति 'शीङ्-श्रद्धा-निद्रा-तन्द्रा-दयि-पति-गृहि-स्पृहेरालुः' (५।२।३७॥) इति '**श्री सि०**' सूत्रेण 'दयि-दानगतिहिंसादहनेषु च' इति धातोः आलुच् । लज्जालुईर्ष्यालु-शलालुप्रभृतयस्त्वौणादिकाः । कृपालुहृदयालू मत्वर्थीयान्ताविति पूज्याः । **दयालुः**-कारुणिकः । "स्याद्दयालुः कारुणिकः कृपालुः" इत्यमरः[1] । **यशोभिः**-कीर्तिभिः । "यशः कीर्तिः समज्ञा चे"त्यमरः[2] । **सुरभि**र्मनोज्ञः । 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपी'ति **विश्वः** । राजते दानदाक्षिण्यशौर्यमाधुर्यप्रजापालनादिगुणैः शोभतेऽसाविति **राजा** । **ताम्** । दय्यते रक्ष्यते स्मेति दयिता, तां **दयितां**-प्रियाम् । "दयितं वल्लभं प्रियम्" इत्यमरः[3] । अत्र रक्षणकर्माश्रयवाचक-दयिताशब्दप्रयोगेणैवं द्योतयति यदुत 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' ।

तथा चाऽऽह **मनुः** - पिता रक्षति कौमरे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१॥

---

१. अम० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २०५४ । २. अम० प्र० शब्दादिवर्गे - ३३३ ।
३. अम० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २१३१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र विषये **जैनशास्त्रे**ऽपि तथैव व्यवस्था ।

निवर्त्य । सुरभेर्गोत्रापत्यं स्त्री सौरभेयी, तां **सौरभेयीं**-कामधेनुसुतां नन्दिनीम् । 'आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः' (५।१।९४॥) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रे आदिशब्देन पयसोऽपि ग्रहणात् । पयांसि धरन्तीति पयोधराः । जलधर-विषधर-शशधर-विद्याधर-श्रीधर-गङ्गाधर-जटाधरप्रभृतिष्वप्येवमेव । '**पाणिनीय**' मते तु 'कर्मणोऽण् (कर्मण्यण्) [३।२।१॥] इति सूत्रस्य बाधकत्वात् तथा न । तन्मते तु धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । "स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ" इत्यमरः[1] । न पयोधरा अपयोधराः । '**श्रीसि०हे०श०**' मते अपयोधराः पयोधराः भूताः (भवन्ति स्म) पयोधरीभूताः । '**पाणिनीय**' मते तु अपयोधराः पयोधराः यथा सम्पद्यमाना (भूताः) पयोधरीभूताः । 'कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्वे च्विः' (७।२।१२६॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'च्विः' । 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' [पा० ५।४।५०॥] । 'च्विविधावभूततद्भावग्रहणं' इति **वार्त्तिकोक्ते**ऽर्थे च्विः । '**श्री सि०हे०श०**' मते 'अप्रयोगीत्' (१।१।३७॥) इति सूत्रेण च्वेर्लुक् । '**पाणिनीय**'मते तु 'चुटु(टू)' [१।३।७॥] इति च्विप्रत्ययगतचकारस्येत्संज्ञा । वेरिकारस्य च इत्संज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' [६।१।६७॥] इति सूत्रेण वकारस्य च लोपः । 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' [**पा०** १।२।६२॥] इत्यनेन च्व्यन्तत्वं कल्पनीयम् । ततश्च 'ईश्च्वावर्णस्याऽनव्ययस्य' (४।३।१२७ (१११)॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'अस्य च्वै (च्वौ)' [।७।४।३२॥] इति '**पा०**' सूत्रेण च पयोधरघटकाकारस्य ईः । 'ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः' (३।१।२॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' [।१।४।६१॥] इति '**पा०**' सूत्रेण च च्व्यन्तस्य गतिसंज्ञा । ततश्च 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' (३।१।४२॥) इति 'श्रीसि०हे०श०' सूत्रेण 'कुगतिप्रादयः' [२।२।१८॥] इति 'पा०' सूत्रेण च समासः । समीचीना उद्रा-जलजन्तुविशेषादयो यत्र, सह मुद्रया वेलया वर्तते इति वा समुद्रः । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्राः यस्याः सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा, तां **पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्**-ऊधीभूतचतुःसागराम् । 'एकार्थं चानेकं च' (३।१।२२॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण त्रिपदो बहुव्रीहिः । 'अनेकमन्यपदार्थे' [२।२।२४॥] इति '**पा०**' सूत्रेणाऽनेकपदग्रहणसामर्थ्यात् त्रिपदो बहुव्रीहिः ।

---

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २६६२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोः रूपं गोरूपम् । '**श्री सि०हे०शब्द०**' मते गोरूपं धरतीति गोरूपधरा। '**पाणिनीय**' मते तु धरतीति धरा, गोरूपस्य धरा गोरूपधरा, तां **गोरूपधराम्**। **ऊर्वीं** वसुन्धराम् । "वसुधरो(सुधो)र्वी वसुन्धरा" इत्यमरः[1] । **इव** । **जुगोप**- ररक्ष। भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः ।

धेनुपक्षे न अधरा अनधरा, अनधरा अधरा भूताः अधरीभूता इति 'श्री-**सि०हे०श०**' मतेन । 'पाणिनीय' मतेन तु अनधरा अधराः सम्पद्यमाना अधरीभूताः। पयसाऽधरीभूताः चत्वारः समुद्राः यस्याः सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा, तां **पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्** । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - निवर्त्य राज्ञा दयिता दयालुना सा सौरभेयी सुरभिणा यशोभिः पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा जुगुपे गोरूपधरेवोर्वी ॥

परमदयालू राजा प्रियतमां सुदक्षिणां सुदूरगमनान्निवर्तयामास, स्वयं च तां नन्दिनीं सर्वभावेन गोप्तुमारेभे । मन्ये नन्दिनीरूपेण प्राप्तां चतुर्भिः स्तनैरिव चतुर्भिर्जलधिभिर्युक्तां साक्षादूर्वीं पृथ्वीमिव स जुगोप, इति सरलार्थः ॥३॥

व्रताय तेनाऽनुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चाऽन्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥

व्रतायेति । **व्रताय** न तु जीवनायेति भावः । धयति तामिति धेनुः । अन्तर्भावितण्यर्थत्वे धयति सुतानिति वा धेनुः । तस्याः **धेनोः** । अनु पश्चाच्चरतीत्यनुचरस्तेनाऽ**नुचरेण** । **तेन** दिलीपेन । शिष्यते इति **शेष**-अवशिष्टः । 'शेषः अवशेषे अनन्ते सर्पराजे सर्पभेदे बलदेवे गजे विष्णुमूर्तिभेदे गुणीभूते च' । शिष्धातोर्घञि शेषः । अत्र त्ववशेषार्थे । अनुयान्तीत्येवं शीला अनुयायिनः, तेषामनुयायिनां वर्गः **अनुयायिवर्गः** अनुचरवर्गः । **न्यषेधि**-निवर्तितः । शेषत्वं सुदक्षिणापेक्षया ।

कथं तर्ह्यात्मरक्षणं तस्याऽत आह, न चेति । **तस्य** दिलीपस्य । शृणाति शीर्यते वा तच्छरीरं देहः । "गात्रं वपुः संहननं, शरीरं वर्ष्मविग्रहः । कायो देहः" इत्यमरः[2] । रक्षणं रक्षा । शरीरस्य रक्षा **शरीररक्षा**-देहरक्षणम् । **च** । अन्यस्मादिति **अन्यतः**-पुरुषान्तरात् । **न** । कुतः ? **हि**-यस्मात्कारणात् । **मनोः** ।

---

१. अम० द्वि० भूमिवर्गे - ५६२ । २. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १२१४-१५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसूयत इति **प्रसूतिः**-सन्ततिः । स्वस्य वीर्यं स्ववीर्यम् । गुप्यते स्मेति गुप्ता । स्ववीर्येण गुप्ता **स्ववीर्यगुप्ता**, स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहस्य परापेक्षेति भावः ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - व्रताय धेनोरनुचरः स शेषमप्यनुयायिवर्गं न्यषेधीत् । तस्य शरीररक्षया(रक्षा) चाऽन्यतो न क्षूयते । हि मनोः प्रसूत्या स्ववीर्ये(र्य)गुप्तया भूयते ॥

व्रतपालनार्थमेवाऽरण्ये गामनुगच्छन्नृपतिः प्राग्महिर्षीं निवर्तयामास । पश्चादन्यानपि सेवकाननुचलनान्निवारितवान् । एकाकिनोऽपि तस्य दिलीपस्य निजरक्षणविधौ काऽपि चिन्ता न बभूव । यतो मनोः कुलधराः नृपाः स्वबाहुबलेनैव सर्वत्र निजरक्षां कुर्वन्ति, इति सरलार्थः ॥४॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

आस्वादवद्भिरिति । सम्यग् राजतेऽसौ **सम्राट्**-मण्डलेश्वरः । "येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्" इत्यमरः[१] । **स** राजा । आस्वादनमास्वादः । आस्वादो विद्यते एषां आस्वादवन्तः, तैः **आस्वादवद्भिः**- रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः । **तृणानां** घासानाम् । "शष्पं बालतृणं घासः" इत्यमरः[२] । केन-मुखेन वलन्त इति कवलाः । 'कै (कैं) शब्दे, कच-दीप्तौ' वा, 'डे' कः । 'को ब्रह्मणि, वायौ, आत्मनि, यमे, दक्षप्रजापतौ, सूर्ये, अग्नौ, विष्णौ, काले, कामग्रन्थौ, राजनि, मयूरे, देहे, मनसि, धने, प्रकाशे, शब्दे च पुं० । मुखे, शिरसि, जले, रोगे च नपुं०' । तैः **कवलैः**- ग्रासैः । "ग्रासस्तु कवलः पुमान्" इत्यमरः[३] । कण्डूयनानीति कण्डूयनानि । तैः **कण्डूयनैः** । दशन्तीति दंशाः । दंशानां-वनमक्षिकाणां निवारणानि दंशनिवारणानि, तैः **दंशनिवारणैः** । "दंशस्तु वनमक्षिका" इत्यमरः[४] । विशेषेण आ समन्तात् हन्यन्ते स्मेति व्याहतानि । न व्याहतानि अव्याहतानि, तैः **अव्याहतैः**, अप्रतिहतैः । स्वैरं गमनानि स्वैरगतानि । अथवा ईरणं ईरः, स्वस्य ईरः येषु तानि स्वैराणि । अथवा स्वेन स्वातन्त्र्येण ईरते इति वा स्वैराणि । स्वैराणि च तानि गतानि च

---

१. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १४७४ । २. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ९८३ ।
३. अम० द्वि० वैश्यवर्गे - १८१५ । ४. अम० द्वि० सिंहादिवर्गे - १०४१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वैरगतानि, तैः **स्वैरगतैः**-स्वच्छन्दगमनैश्च । **तस्याः** धेन्वाः । सम्यग् आराधनं समाराधनम् । तदेव परं-प्रधानं यस्य स तत्परः । समाराधने तत्परः **समाराधन-तत्परः**-शुश्रूषासक्तोऽ**भूत्** । समाराधनतत्परस्य विधेयविशेषणत्वात् विशेष्यात्पर-प्रयोगः । 'उद्देश्यवचनं पूर्वं विधेयवचनं पर' मिति न्यायात् । "तत्परे प्रसितासक्तौ" इत्यमरः[१] ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- तेन सम्राजा आस्वादवद्भिस्तृणानां कवलैः कण्डूयनैर्दंशनिवारणैरव्याहतैः स्वैरगतैश्च तस्याः (नन्दिन्याः) समाराधन-तत्परेणाऽऽभावि ॥

तस्याः ओ(भो)जनार्थं सुघासमुष्टिं प्रयच्छन् गात्रखर्जनमपनयन् दुःखकरान्दंशमशकादीन् निवारयन् स्वेच्छाविहारं चाऽनुवर्तमानः सन् सः (दिलीपः) सर्वप्रकारेण नन्दिनीं सिषेवे, इति सरलार्थः ॥५॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

स्थित इति । पातीति पतिः । भुवः पतिः **भूपतिः** । **तां**-गां, **स्थिताम्** । गत्यर्थादकर्मकाच्च धातोः कर्तरि क्तप्रत्ययविधानात् अस्थादिति स्थिता, तां-सतीम् । स्थितः-सन् । स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । प्रायासीदिति प्रयाता, ताम् [**प्रयाताम्**] / प्रस्थितां सतीमुदचालीदिति **उच्चलितः**, प्रस्थितः सन् निषसादेति निषेदुषी । **सिद्धहेम**मते निउपसर्गपूर्वात् सद्धातोः 'तत्र क्वसुकानौ तद्वत् (५।२।२॥) इति सूत्रेण 'क्वसु'-प्रत्यये तस्य च नामसंज्ञायां 'अधातूदृदितः' (२।४।२॥) इत्यनेन स्त्रियां 'ङीप्'-प्रत्यये 'क्वसुष्मतौ च' (२।१।१०५॥) इति क्वस उषादेशे निषेदुषी । **पाणिनीय** मते तु 'भाषायां सद-वस-श्रुवः' [३।२।१०८॥] इति क्वसुप्रत्यये 'उगितश्च' [४।२।६॥] इति ङि(ङी)पि निषेदुषी । तां **निषेदुषीं**-निषण्णां-उपविष्टामित्यर्थः । सतीम् । आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनमिति प्रायः सर्वत्र व्युत्पत्तिर्दृश्यते । तथा चाऽऽसनस्य भूम्यादिरर्थो लभ्यते । तथा सति योगसत्काष्टा-ङ्गान्तर्गत-तृतीयाङ्गरूपासनपदवाच्यचतुरशीत्यासनमध्यवर्तिनः कस्याऽप्यासनस्य ग्रहणं न स्यात् । अत्र धीरशब्दबलात्तदेव योगाङ्गरूपमासनमिति गम्यते । तथा सति आस्तेऽनेनेत्यासनमिति व्युत्पत्तिः समीचीना । इयमेव व्युत्पत्ति**र्वाचस्पतिमिश्रैः**

१. अम० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २०४२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पातञ्जलयोगदर्शनवृत्तौ कृता । बन्धनं बन्धः । आसनस्य बन्धः आसनबन्धः । धिया राजते, धियं राति ददाति गृह्णाति वा ईरयति ईरति वा प्रेरयति गमयति वा धीरः । न च 'रांक्-दाने' इत्येव सर्वत्र धातुपाठे दर्शनात्कथं ग्रहणरूपोऽर्थः इति वाच्यम् । 'रातुं वारणमागतः' इति प्रयोगदर्शनेन कस्यचिन्मते आदान-रूपार्थस्याऽपि सत्त्वात् । तथोक्तं **हेमचन्द्रसूरि**कृते **धातुपारायणे क्रियारत्नसमुच्चये** च **आदाने इति कश्चित्** इति ।

'ईरण्-क्षेपे', क्षेपः प्रेरणम् । 'गत्यादावपीति **केचित्**' इत्यस्य चुरादेरयं प्रयोगः । न तु 'ईरं (रिक्)- गतिकम्पनयो 'रित्यस्याऽदादेः इ(ई)रयति इ(ई)रति इति प्रयोगकरणात् । अदादेस्तु ईर्त्ते इति प्रयोगः ।

आसनबन्धे धीरः **आसनबन्धधीरः** । पद्मासनादिबन्धेऽथवा योगपट्टक-सदृशे विनीतः बलयुतः पण्डितश्चेति भावः । आसनबन्धे-उपवेशने धीरः-स्थित-उपविष्टः सन्नित्यर्थः इति **केचित्** ।

सत् जलमादत्तेऽसावाददाना, तां जलं पिबन्तीं सतीम् । **हेमचन्द्रसूरि**-मते **दीक्षित**मते चाऽभिलषतीत्येवं शीलः अभिलाषी । जलस्याऽभिलाषी **जलाभिलाषी** । वृत्तिकार**हरदत्तमाधवादि**मते तु जलस्याऽभिलाषो जलाभिलाषः, सोऽस्याऽस्तीति जलाभिलाषी सन् । **छाया इव**-प्रतिबिम्बमिव । "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः, प्रतिबिम्बमनातपः" इत्यमरः[१] । **अन्वगच्छत्**-अनुसृतवान् ।

वाच्यपरिवर्तने तु- भूपतिना स्थिता स्थितेन प्रयातोच्चलितेन निषेदुषी आसनबन्धधीरेण जलमाददाना जलाभिलाषिणा सता छाययेव साऽन्वगम्यत ॥

नन्दिनी यदा चलनाद्विरराम तदा नृपोऽपि विरराम, यदा चलितुमारेभे तदा नृपोऽपि तथा । यदा निषसाद तदा नृपोऽपि तथा, यदा जलं पपौ तदा नृपोऽपि जलमपिबत् । किं बहुना ? स भूपतिः सदा छायेव तामनुजगाम, इति सरलार्थः ॥६॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥७॥

स इति । न्यस्यन्ते स्मेति न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २६५० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्याः सा न्यस्तचिह्ना, तां तथाभूतामपि । विशेष्यते इति विशेषः । तेजसो विशेषः तेजोविशेषः । अनुमीयते स्मेति अनुमिता । तेजोविशेषेण-प्रभावातिशयेन अनुमिता तेजोविशेषानुमिता, तां **तेजोविशेषानुमिताम्** - प्रतापातिशयतर्किताम् । सर्वथा राजा इवाऽयं भवेदित्यूहिताम् । राज्ञः लक्ष्मीः राजलक्ष्मीः, तां **राजलक्ष्मीम्** । धत्तेऽसौ **दधानः** । **स** राजा । आविष्क्रियते स्मेति आविष्कृता, न आविष्कृता अनाविष्कृता । दानस्य राजिः दानराजिः । अनाविष्कृता दानराजिर्येन स **अनाविष्कृतदानराजिः**-बहिरप्रकटितमदरेखः । "गण्डः कटो मदो दानम्" इत्यमरः[1] । मदस्य अवस्था मदावस्था । अन्तर्गता मदावस्था यस्य स **अन्तर्मदावस्थः** । तथाभूतोऽभ्यन्तरदानदशः । द्वाभ्यां शुण्डतुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः । इन्दतीति इन्द्रः । द्विपानामिन्द्रः **द्विपेन्द्रः** । **इव** यथा । समदभद्रजातीयो गजपतिरिवेत्यर्थः । "द्विरदोऽनेकपो द्विपः, मतङ्गजो गजो नागः" इत्यमरः[2] ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - तेन (राज्ञा) न्यस्तचिह्नामपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानेन (सता) अनाविष्कृतदानराजिना अन्तर्मदावस्थेन द्विपेन्द्रेणेवाऽभूयत ॥

समदभद्रजातीयो गजपतिर्यद्यपि मदवारिभिरन्तर्गतां निजां मदावस्थां न प्रकटीकरोति, तथाऽपि तस्य तेजःशालिना मूर्तिवि(र्तिवि)शेषेण यथा मनुष्यस्तां मदावस्थां निश्चेतुं समर्थो भवति; तथा स दिलीपो व्रतबन्धाद्यद्यपि छत्रचामरालङ्कारादिभिः निजां राजलक्ष्मीं नाऽधत्त, तथाऽपि तस्य प्रभावशालिना मूर्तिविशेषेणैव जनस्तस्य राज्यश्रियमनुमातुं शशाक, इति सरलार्थः ॥७॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥८॥

लतेति । अत्र प्रतानशब्दस्य भावघञन्तत्वाभावान्न पुंस्त्वमेव । 'वेदाः प्रमाण'मितिवत्सामान्यविवक्षायां प्रतन्यते एभिरिति करणे नपुंसकत्वमपि । अथवा 'विशेष्यलिङ्गानुसारित्वा'दत्र पुंस्त्वमपि । प्रतन्यते इति प्रताना इति व्युत्पत्तौ पुंस्त्वमपि ।

लतानां-वल्लीनां प्रतानः(नाः) प्रतानानि वा लताप्रतानाः लताप्रतानानि

१. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १५४१ ।
२. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १५३५-३६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा । उद्ग्रथ्यन्ते स्मेति उद्ग्रथिताः । लताप्रतानैः लतासम्बन्धिकुटिलतन्तुभिः उद्ग्रथिता-उन्नमय्य ग्रथिता लताप्रतानोद्ग्रथिताः, तैः **लताप्रतानोद्ग्रथितैः** । **केशैः** कचैः । **सिद्धहेम**मते 'हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे' (२।२।४४।।) इति तृतीया । "चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः" इत्यमरः[१] । **पाणिनीय**मते तु 'इत्थम्भूतलक्षणे' [२।३।२१।।] इति तृतीया । "वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमरः[२] । उपलक्षित**स्स** राजा । ज्यामधिरूढं अधिज्यं - आरोपितमौर्वीकं, अधिज्यं धनुर्यस्य स **अधिज्यधन्वा** सन् । सिद्धहेममते 'धनुषो धन्वन्' (७।३।१५८।।) इति बहुव्रीहौ 'धन्वन्' आदेशः । **पाणिनीय**मते तु 'धनुषश्च' [।५।४।१३२।।] इति 'अनङ्'आदेशः । होमाय धेनुः होमधेनुः । '**सिद्धहेम**'मते हितादेराकृतिगणत्वात् 'हितादिभिः' (३।१।७१।।) अनेन तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्याऽपि समासः । एवं अश्वघासादावपि ज्ञेयम् । यत्र प्रकृतिविकृतिभावस्तत्रैव तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तस्य समास इति । '**पाणिनीय**' मते तु होमस्य धेनुः होमधेनुः । अत्राऽश्वघासादिव तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । मुनेः होमधेनुः मुनिहोमधेनुः, तस्याः **मुनिहोमधेनोः** ।

रक्षणं रक्षा । अपदिश्यतेऽपदिशनं वा इत्यपदेशः । रक्षायाः अपदेशः रक्षापदेशः, तस्मात् **रक्षापदेशात्**-रक्षणव्याजात् । वने भवा वन्याः, तान् **वन्यान्**-काननोत्पन्नान् । "अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्" इत्यमरः[३] । दुष्टाश्च ते सत्त्वाश्च दुष्टसत्त्वास्तान्- दुष्टजन्तून्ः हिंस्रजन्तून् । "द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु" इत्यमरः[४] । सतो भावः सत्त्वं 'साङ्ख्यसिद्धे, प्रकाशादिसाधने, प्रकृत्यवयवे, पदार्थे । तत्र-

'सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' ॥ इति **गीता** ।

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥"

इति च **साङ्ख्यकारिका** [।।१३।।]

अयं द्वितकारः पृषोदरादित्वादेकतकारः । 'स्वभावे, द्रव्ये, बले, पिशाचादौ, प्राणेषु, व्यवसाये, रसे, आत्मनि, चित्ते, आयुषि, धने च न्यायो-(वैशिषिको)क्ते सत्तारूपे, जातिभेदे, विद्यमानतायां च' । 'जन्तुषु तु पुंसत्त्वे

१. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १२६४ । २. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ६६६ ।
३. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ६५० । ४. अम० तृ० नानार्थवर्गे-२७६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नपुंसकत्वे च द्वितकार एव' ।

विनेष्यतीति **विनेष्यन्**-शिक्षयिष्यन्निव । **दावं** वनम् । "वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते" इति **यादवः** । "दवदावौ वनारण्ये(ण्य)वह्नी" इत्यमरः[1] । **विचचार**-वने च (वा) चचारेत्यर्थः । **'सिद्धहेम'**मते 'कालाध्वभावदेशं [वा] कर्म चाऽकर्मणाम् (२।२।२३॥) इति, **'पाणिनीय'**मते तु "देशकालाध्व-गन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्" इति दावस्य कर्मत्वम् ।

वाच्यपरिवर्तनं तु- लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः (उपलक्षितेन) अधिज्य-धन्वना तेन (दिलीपेन) मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यतेव दावो विचेरे ॥

स दिलीपो लम्बायमानं स्वकेशकलापं वल्लरीतन्तुभिः उन्नमय्य बद्ध्वा चापे ज्यामारोप्य तां मुनिहोमधेनुं ररक्ष । अत्रोत्प्रेक्ष्यते - मन्ये खलान्तकोऽसौ दिलीपो धेनुरक्षणव्याजेनाऽऽगत्य तत्र वने सिंहादीन् दुष्टजन्तून् विनाशितुं(शयितुं) तथा सज्जीभूतो विचचार, इति सरलार्थः ॥८॥

विसृष्टेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह-

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥९॥

विसृष्टेति । विसृज्यन्ते स्मेति विसृष्टाः । अनुचरन्तीति अनुचराः । पार्श्वयोरनुचराः पार्श्वानुचराः । विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन स विसृष्टपार्श्वानुचरः, तस्य **विसृष्टपार्श्वानुचरस्य** । पाशं बिभर्तीति पाशभृत्, तेन **पाशभृता**-वरुणेन । **समस्य**-तुल्यस्य । "प्रचेता वरुणः पाशी" इत्यमरः[2] । अत्र दिलीपस्य वरुणतुल्यताप्रतिपादनेन, वरुणस्य जलाधिष्ठातृदेवत्वेन प्रसिद्धिः, तं दृष्ट्वा यथा द्रुमादयः पुष्यन्ते तथा तं नृपं दृष्ट्वा सर्वेऽपि पुष्यन्ते इति द्योतयति। अनुभावोऽनेन सूचितः । **तस्य** राज्ञः । पार्श्वयोः द्रुमाः **पार्श्वद्रुमाः** । द्रवति ऊर्ध्वं गच्छतीति द्रुः, द्रवः शाखाः सन्त्येषामिति द्रुमाः । उत् उत्कटो मदो येषां ते उन्मदाः, तेषामुन्मदानामुत्कटमदानाम् । **वयसां** खगादीनाम् ।

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७४७ । २. अम० प्र० स्वर्गवर्गे - १२१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः । विरवणानीति वा वि-उपसर्गपूर्वात् 'रु'धातोर्घञि विरावः पु० । विरूयन्ते इति विरावाः, तैः **विरावैः** - शब्दैः । आलोक्यते इति आलोकः, आङ्-उपसर्गपूर्वात् 'लोकृ' धातोर्घञि आलोकः । 'आलोको दर्शने, उद्योते, बन्दिनामालोकयेत्यादिस्तुतिवाक्ये" । आलोकनं वाऽऽलोकः । आलोकस्य शब्दः-वाचकः आलोकशब्दः, तमालोकशब्दम्; अथवाऽऽलोकश्चाऽसौ शब्दश्चाऽऽ-लोकशब्दः, तम् **आलोकशब्दम्** । आलोकयेति शब्दं राजोचितं जयशब्दमित्यर्थः । "आलोको जयशब्दः स्यात्" इति **विश्वः** । उदीरयामासुरिवाऽवदन्निवेत्युत्प्रेक्षा । तल्लक्षणं चेदं '**कुवलयानन्दे**'-

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मनाम् ।
उक्तानुक्तास्पदाऽद्यात्र सिद्धासिद्धास्पदे परे ॥१॥

अन्यधर्मसम्बन्धनिमित्तेनाऽन्यतादात्म्यसम्भावनमिति भावः ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- पार्श्वद्रुमैः उन्मदानां वयसां विरावैः विसृष्ट-पार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्याऽऽलोकशब्द उदीरयामासे इव ॥

यथा राजमन्दिरे चतुष्पथादौ च सेवकाः प्रजाजनाश्च मङ्गलध्वनिभिः तं संवर्धयन्ति स्म तथाऽरण्येऽपि तन्निकटवर्तिनस्तरवः पार्श्वचरविहीनं वरुणवत्प्रभाव-शालिनं तं नृपं मत्तखगकुलकूजितरूपेण जयशब्देन संवर्धयामासुः, इति सरलार्थः ॥९॥

द्वाभ्यां युग्मं, त्रिभिर्विशेषकं, चतुरादिभिः कलापकं, पञ्चादिभिः कुलकमिति कृत्वाऽतः प्रभृति षड्भिः श्लोकैः कुलकेनाऽऽह ।

पूर्वश्लोके पार्श्वद्रुमाः सत्कारं चक्रुरस्मिंश्च बाललता, इति तत्सत्कार-समुच्चयार्थश्च शब्दः ।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनै-राचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । प्रयुज्यन्ते स्मेति प्रयुक्ताः । मरुता प्रयुक्ता **मरुत्प्रयुक्ताः** वायुना प्रेरिताः । बालाश्च ता लताश्च **बाललताः**-कोमलवल्ल्यः । **आरात्**समीपे

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७९६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आरात् दूरसमीपयोः" इत्यमरः । अभिवर्ततेऽसौ अभिवर्तमानस्तम् **अभिवर्तमानम्**। मरुतो-वायोः सखा मरुत्सखः । अत्र 'राजन्सखेः' (७।३।१०६॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण सखिशब्दाद् 'अट्'समासान्तः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' [५।४।९१॥] इति **पाणिनीय**सूत्रेण च टचि । 'अवर्णेवर्णस्य' (७।४।३८॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण इकारलुकि मरुत्सखः । 'यस्येति चे(च) [**पा०** ६।४।१४८] सूत्रेण इकारलोपे मरुत्सखः । आभानमिति आभा । मरुत्सखस्याऽऽभेव आभा यस्य स मरुत्सखाभः, तं **मरुत्सखाभम्** । 'उपसर्गादातः' (५।३।११०॥) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रेण ङि(अङि) आभा । 'आतश्चोपसर्गे' [३।३।१०६॥] इति '**पा०**' सूत्रेणाप्रत्यये आभा । अर्चयितुं योग्यः अर्च्यः, तम् **अर्च्यं**-पूज्यम् । **तं** दिलीपम् । प्रसूयन्ते स्मेति प्रसूनानि, तैः प्रसूनैः । 'षूङौच्-प्राणिप्रसवे' इति '**श्री सि०हे०श०**' धातुपाठपठितस्य दिवादिधातोः क्तप्रत्यये, क्तस्य च 'सूयत्याद्योदितः' (४।२।७०॥) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रेण नत्वे प्रसूनानि-कुसुमानि । **पाणिनीय**मते तु 'षुंग्-प्राणिप्रसवे' तत्कर्मणि (तृतीया कर्मणि) [६।२।४८॥] इति 'क' प्रत्यये 'स्वादय ओदित' 'इत्युक्तत्वात् 'ओदितश्च' [८।२।४५॥] इति निष्ठान्तस्य नत्वे 'यस्य विभाषा' [७।२।१५॥] इति इडभावे भिसि **प्रसूनैः** । अत एवाऽन्येऽयम-प्राणिप्रसवे इतीच्छन्तीति पूज्याः ।

अदादिगणपठितस्य 'षूङौक्-प्राणिगर्भविमोचने' इत्यस्य नेदं रूपं, तदर्थासम्भवात् । तुदादिपठितस्य 'षूत्-प्रेरणे' इत्यस्याऽपि न, तदर्थासम्भवात् उदितत्वाभावेन नादेशाभावाच्च । '**पाणिनीय**' मतेऽपि 'षूङ्' इति दिवादिधातोरेवेदं रूपम् । तन्मते 'स्वादय ओदित' इत्योदितत्वात् 'ओदितश्चे'ति सूत्रेण तस्य नादेशः । अदादि-तुदाद्योरोदितत्वाभावेन तस्य नत्वाभावात् तदर्थासम्भवाच्च न तयो रूपम् ।

पुरे भवाः पौराः । कनन्ति कन्यन्ते वा इति कन्याः । पौराश्च ताः कन्याश्च पौरकन्याः, अथवा पौराणां कन्याः **पौरकन्याः** । '**श्रीसि०हे०श०**' मते 'हितादिभिः' (३।१।७१॥) इति सूत्रेण तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तसमासे, आचरणम् आचारः, आचाराय लाजाः आचारलाजाः तैः **आचारलाजैः** । लज्ज्यन्ते भृज्ज्यन्त इति लाजाः । लाजाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । **पाणिनीय**मते तु अश्वघासादिवत्

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २८२० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठीसमासे आचारस्य लाजाः आचारलाजाः, तैः आचारार्थैः लाजैः आचारलाजैः । **इव** । **अवाकिरन्** । तस्योपरि निक्षिप्तवत्य ववृषुः इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरति, इति भावः ।

अत्र हि पूर्वश्लोके पाशभृता समस्येति कथनेन पाशभृतो वरुणस्य जलाधिष्ठातृत्वेन पाशभृत्प्रयुक्तजलधरागमे द्रुमाणां हर्षातिरेकः संजायते । तथा च हर्षातिरेके द्रुमाणां पक्षिणामप्युत्कटमदत्वं जायते, ततश्च ते स्वस्वध्वनिभिर्मधुरारावाः तन्वते इत्युत्प्रेक्षितम् । पार्श्वद्रुमास्तस्याऽऽलोकशब्दमुदीरयामासुरिति । जलधरागमेन लतादीनां हर्षातिरेकज्ञापकमुद्गमत्वं जायते, कुसुमोद्भेदादिस्तु जलधरानन्तरमातपनिपातेनेति सम्भाव्यते । इत्यस्मिन् श्लोके मरुत्सखाभमिति राज्ञो विशेषणेन, यथाऽऽतपनिपातः कुसुमोद्भेदादिहेतुः, तथाऽत्र दावे राज्ञ आगमनमस्माकं कुसुमितत्वे हेत्विवेति ताः प्रभूतहर्षातिरेकवत्यः कुसुमरूपैराचारलाजैर्वर्धापितवत्य इवेत्युत्प्रेक्षा ध्वनितेत्याभाति ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- मरुत्प्रयुक्ताभिः बाललताभिश्च मरुत्सखाभोऽर्च्य आरादभिवर्तमानः स (नृपः) आचारलाजैः पौरकन्याभिरिव प्रसूनैरवाकीर्यत ॥

यथा हि तस्य नगरप्रवेशे पौरकन्यकाः तस्योपरि मङ्गलार्थान् निर्मलान् लाजान् वर्षन्ति तथा वने वल्ल्यो मारुतान्दोलितैः शाखाकरैः पावकवत् तेजसस्तस्योपरि निर्मलानि पुष्पाणि समन्तात् किरन्ति स्म, इति सरलार्थः ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

धनुर्भृत इति । धनतीति धनुः । धनुर्बिभर्तीति धनुर्भृत्, तस्य **धनुर्भृतः**- कोदण्डधारिणः । **अपि** । **अस्य** राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता । तथाऽपि विगता शङ्का एभ्यस्तानि विशङ्कानि, तैः **विशङ्कैः**-निर्भीकैः । **अन्तःकरणैः** कर्तृभिः । दयया कृपारसेन आर्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद् **दयार्द्रभावम्** । तद् आख्यायते स्मेति **आख्यातम्** - कथितम् । (दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः) । "भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु" इत्यमरः[1] । तथाविधं **वपुः**-शरीरम् । "गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः" इत्यमरः[2] । विलोकयन्तीति **विलोकयन्त्यः** - सादरं पश्यन्त्यः । **हरिण्यः** मृग्यः । अक्ष्णां नेत्राणाम् । "लोचनं नयनं

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७५० । २. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १२१४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी" इत्यमरः । विस्तरणं विस्तारः । प्रकामं विस्तारः प्रकामविस्तारः । प्रकामविस्तारस्याऽत्यन्तविशालतायाः फलं-प्रयोजनं **प्रकामविस्तारफलम् । आपुः**-लेभिरे ॥

वाच्यपरिवर्तनम् - धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावं (हरिणीनां) विशङ्कैरन्तः-करणैः आख्यातं (अस्य) वपुर्विलोकयन्तीभिर्हरिणीभिरक्ष्णां प्रकामविस्तार-फलमापे ॥

धनुर्धारिणमपि तमायान्तं विलोक्य हरिणीनां भयक्षान्तिसम्भावनायामपि भयाभावप्रयुक्तनिर्मलैरन्तःकरणैः राज्ञो दिलीपस्याऽन्तरात्मा हिंसालेशरहित-सर्वजीवविषयदयाद्रवीभूत इति ज्ञातम् । तेन च नृपस्य दयार्द्रभावं परममनोहरं वपुः निर्भयात् बहुकालं निर्भरं ददृशुः, तेन च स्वनेत्राणामत्यन्तविशालतायाः फलमापुः । "विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुञ्चे"ति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धा ददृशुः, इति सरलार्थः ॥११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

स कीचकैरिति । सः दिलीपः । मारुतेन पूर्णानि रन्ध्राणि येषां ते मारुतपूर्णरन्ध्राः, तैः **मारुतपूर्णरन्ध्रैः**-वायुपूरितछिद्रैः । "छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वपा शुषिः" इत्यमरः[२] । अत एव कूजन्तीति कूजन्तः, (तैः) **कूजद्भिः**-स्वनद्भिः । **कीचकैः** वेणुविशेषैः । "वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्य-निलोद्धताः" इत्यमरवचनात्[३] कीचकशब्देनैव मारुतपूर्णरन्ध्रत्वस्य सिद्धौ मारुतपूर्णरन्ध्रैरिति विशेषणं किमर्थमिति चेत्, विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम् इति ज्ञापनार्थम् ।

वंशः शुषिरवाद्यविशेषः । "वंशादिकं तु शुषिरम्" इत्यमरः[४] । वंशस्य कृत्यं वंशकृत्यम् । आपाद्यते स्मेति आपादितम् । आपादितं वंशकृत्यं यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथाऽऽ**पादितवंशकृत्यम्**-संपादितशुषिरकार्यम् । कुञ्जेषु लतागृहेषु । "निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" इत्यमरः[५] । वनस्य

१. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १२५९ । २. अम० प्र० पातालभोगिवर्गे - ४४१ ।
३. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ९७१ । ४. अम० प्र० नाट्यवर्गे - ३७० ।
५. अम० द्वि० शैलवर्गे - ६४९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवता वनदेवता:, ताभि: **वनदेवताभि:**-विपिनदेवताभि: । "अटव्यरण्यं विपी(पि)नं गहनं काननं वनम् "इत्यमर:[1] । **उच्चै:** उच्चस्वरेण । उद्गीयते इत्युद्गीयमानम् । **स्वं**-निजम् । **यश:**- "एकदिग्गामिनी कीर्ति: सर्वदिग्गामुकं यश:" । "यश: कीर्ति: समज्ञा च" इत्यमर[2]वचनात्तु कीर्तिम् । **शुश्राव**-श्रुतवान् ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- तेन मारुतपूर्णरन्ध्रै: कूजद्भि: कीचकैरापादित-वंशकृत्यं कुञ्जेषु वनदेवताभिरुच्चैरुद्गीयमानं स्वं यश: शुश्रुवे ॥

तस्मिन् वने एकान्तशीतलेषु वल्लरीकुञ्जेषु सुखासीना वनदेवता: मङ्गलगायिका इव मनोहरेण गान्धारस्वरेण तस्य नृपतेराश्चर्यकर्माणि गायन्त्य: तस्य कर्णसुखं चक्रिरे । वनजातै: कीचकैश्च (सच्छिद्रवंशैश्च) पवनपूर्णरन्ध्रतया मधुरं ध्वनिभिस्तासां गानस्याऽनुरञ्जकं वंशीवाद्यकार्यं सम्पादितम्, इति सरलार्थ: ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवन: सिषेवे ॥१३॥

पृक्त इति । गिरिषु निर्झरा: गिरिनिर्झरा:, तेषां **गिरिनिर्झराणाम्**-पर्वतनि:सृतवारिप्रवाहाणाम् । "वारिप्रवाहो निर्झरो झर:" इत्यमर:[3] । **तुषारै:**-सीकरै: । 'दन्त्य: सीकरशब्द: पुंसि, तालव्य: शीकरशब्दस्तु नपुंसके' इति विशेष: । "तुषारो हिमदेशयो: शीकरे हिमभेदे च" इति **पूज्यश्रीहेमचन्द्रसूरि**-कृतोऽनेकार्थसंग्रह:[4] । "तुषारौ हिमसीकरौ" **शाश्वत:** "तुषार: हिमे कर्पूरे शीते च" । पृच्यते स्मेति **पृक्त:**-सम्पृक्त: ।

अनस: - शकटस्य अक: - गति: अनोक:, अनोकं घ्नन्तीति अनोकहा:, कम्प्यन्ते स्मेति कम्पितानि, आ-ईषत् कम्पितानि आकम्पितानि, आकम्पितानि च तानि पुष्पाणि च आकम्पितपुष्पाणि, अनोकहाकम्पितपुष्पाणां गन्ध: अनोकहा-कम्पितपुष्पगन्ध:, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धा(न्धो)ऽस्याऽस्तीति **अनोकहाकम्पित-पुष्पगन्धी**-ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्द: सुरभि: पुनातीति **पवन:**-वात: ।

---

१. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ६५० । २. अम० प्र० शब्दादिवर्गे - ३३३ ।
३. अम० द्वि० शैलवर्गे- ६४३ । ४. अनेकार्थसंग्रहे तृ० ५५४-५५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः ।
पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः ॥
समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः ।
नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः" ॥ इत्यमरः[१] ।

आतपात् त्रायते इत्यातपत्रम् । न विद्यते आतपत्रं यस्य स अनातपत्रः, तम् **अनातपत्रम्** - व्रतार्थं परिहृतछत्रम् । अत एव क्लाम्यते स्मेति क्लान्तः । आतपेन क्लान्तः आतपक्लान्तः, तम् **आतपक्लान्तम्** । पूयते स्मेति पूतः । आचारेण पूतः आचारपूतः, तम् **आचारपूतम्**-आचारशुद्धम् । **तं**-नृपम् । **सिषेवे**-सेवितवान् । अनेन 'आचारः प्रथमो धर्मः' इति ज्ञापितम् । यद्यपि ज्ञानपूर्णः स्यात्तथाऽपि सामान्यदृष्ट्या आचारभ्रष्टः (न सेवनार्हः स्यात्) । तथा चाऽऽह -

शीलविहीनस्तु तथा श्रुतवानपि नोपजीव्यते सद्भिः ।
शीतलजलपरिपूर्णः कुलजैश्चाण्डालकूप इव ॥१॥

तथा चाऽऽहुः **पूज्याः**-

गुणसुट्ठियस्स घयमहुसित्तुव्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहीणो जह पईवो ॥१॥[२]

तथा चाऽन्येनाऽप्युक्तम्-

क्षीरं भाजनसंस्थं न तथा वत्सस्य पुष्टिमावहति ।
आवल्गमानशिरसो यथा हि मातृस्तनात्पिबतः ॥१॥

तद्वत्सुभाषितमयं क्षीरं दुःशीलभाजनगतं तु न ।
तथा पुष्टिं जनयति यथा हि गुणवन्मुखात् पतितम् ॥२॥

शीतेऽप्ययत्नलब्धो न सेव्यतेऽग्निर्यथा स्मशानस्थः ।
शीलविपन्नस्य वचः पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत् ॥३॥

---

१. अम० प्र० स्वर्गवर्गे - १२२-२३-२४-२५ ।
२. गुणसुस्थितस्य घृतमधुसिक्त इव पावको भाति ।
गुणहीनस्य न शोभते स स्नेहविहीनो यथा प्रदीपः ॥ (छायार्थः)॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रेण विहीनः श्रुतवानपि नोपजीव्यते सद्भिः ।
शीतलजलपरिपूर्णः कुलजैश्चाण्डलकूप इव ॥४॥

आचारपूतत्वात् स राजा जगत्पावनस्याऽपि सेव्य आसीदिति भावः ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तेनाऽनोकहाकम्पित-पुष्पगन्धिना पवनेनाऽनातपत्र आतपक्लान्त आचारपूतः स सिषेवे ॥

पर्वतसरित्प्रवाहाणां शीतलान् वारिकणान् वहन् ईषत्कम्पितानां तरुपुष्पाणां गन्धं वहन्मन्दः शीतलः सुगन्धः जगत्पावयन्गन्धवहः तस्मिन् वने छत्ररहितं आतपतापितं सदाचारपवित्रं तं दिलीपं सेवितवान्, इति सरलार्थः ॥१३॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

शशामेति । गोपायतीति गोप्ता, तस्मिन् **गोप्तरि**-रक्षयितरि । **तस्मिन्** दिलीपे राज्ञि । **वनम्**-अरण्यम् । गाहतेऽसौ गाहमानः, तस्मिन् **गाहमाने** प्रविशति सति । **वृष्ट्या विनाऽपि**-वर्षाणामभावेऽपि । दुनोतीति दवः । दवस्य **अग्निः** **दवाग्निः**-वनाग्निः । "दवदावौ वनानले" इति हैमः[१] । "दवदावौ वनारण्यवह्नी" इत्यमरः[२] । अन्यत्र तु दवनं दव इति भावे 'दु'धातोरपि भवति उपतापे । **शशाम** शान्तो बभूव ।

फलानि च पुष्पाणि च फलपुष्पाणि, फलपुष्पाणां वृद्धिः **फलपुष्पवृद्धिः** - **सस्यकुसुमवृद्धिः** । "वृक्षादीनां फलं सस्यम्" इत्यमरः[३] । विशिष्यत इति **विशेषा**; 'भावाऽकर्त्रोः' (५।३।१८॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण, **पाणिनीयमते** तु बाहुलकात् कर्मणि 'घञ्'-अतिशयिता । **आसीत्**-अभूत् । **सत्त्वेषु** जन्तुषु मध्ये 'सप्तमी चाऽविभागे निर्द्धारणे' (२।३।१०९॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण, 'यतश्च निर्धारणम्' [२।३।४१॥] इति **पाणिनीय**सूत्रेण च सप्तमी । "**सत्त्वमस्त्री** तु जन्तुषु" इत्यमरः[४] । **अधिकः**-प्रबलः (सबलः) सिंहादिरित्यर्थः ।

---

१. अभि० चि० अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ५१२ ।
२. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७४७ ।
३. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ६७८ ।
४. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७६१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊनं-दुर्बलम् हरिणादिकम् । **न बबाधे**-न पीडयामास ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- गोप्तरि तस्मिन् (सति) वनं गाहमाने (सति) दवाग्निना वृष्ट्या विनाऽपि शेमे । फलपुष्पवृद्ध्या विशेषया अभूयत । सत्त्वेषु अधिकेन ऊनं न बबाधे ॥

अहो ! अलौकिकः प्रभावस्तस्य राजर्षेर्यस्मिन् प्रविष्टमात्र एव तस्मिन् महावने वृष्ट्या विनाऽपि वनाग्निः शशाम, वृक्षलतादयोऽपि प्रभूतया फलपुष्पलक्ष्म्या चकासिरे, प्रबलाश्च जीवा निर्बलहिंसनात् विरेमुः । सबलो वन्यजन्तुर्दुर्बलं न बाधते स्म, इति सरलार्थः ॥१४॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

सञ्चारेति । पल्यते सम्पदा इति 'पल्(ल्ल)-गता'विति भ्वादिगणधातोः क्विपि पल्, लूयते इति 'लू[गश्] छेदने' इति क्र्यादिगणधातोः कर्मणि अपि लवः, पल् चाऽसौ लवश्च पल्लवः । "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्" इत्यमरः[१] । अभिनवः पत्रविस्तारः । "रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु" इति **शाश्वतः** । अत्र रज्यतेऽनेनेति करणे 'घञ्' । 'घञ् भावकरणे' (४।२।५२॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'घञ्च (घञि च) भावकरणयोः' [६।४।२७॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च न लुपि रागः-वर्णविशेषः । आध्यात्मिकविचारे तु विषयेषु इमे शोभना इत्यध्यासेन 'रञ्जनस्वरूपाऽभिनिवेशात्मिका या चित्तवृत्तिः । सा रागः' पल्लवस्य रागः पल्लवरागः । ताम्यतीति इच्छार्थकदिवादिगणीय'तम्'धातोः अकि दीर्घे ताम्रा । पल्लवराग इव ताम्रा **पल्लवरागताम्रा** ।

पतन् सन् गच्छतीति पतङ्गः, अथवा पततौ इति भ्वादिश्चुरादिश्च पतृ ऐश्ये च दिवादिः । अत्र पततीति भ्वादिपत्धातोः अङ्गचि पतङ्गः , तस्य **पतङ्गस्य**-सूर्यस्य । "पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः" इति **शाश्वतः** । "पतङ्गः सूर्ये शलभे खगे शालिभेदे मधूकवृक्षे च" । प्रकर्षेण भातीति **प्रभा**-कान्तिः । मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति, मननशीलो वा मुनिः, तस्य **मुनेः धेनुः । च ।** दिशामन्तराणितानि दिगन्तराणि-दिगवकाशान् । "अन्तरमवकाशावधि-

---

१. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ६७७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये" इत्यमरः । सञ्चरणं सञ्चारः । पूयन्ते स्मेति पूतानि-शुद्धानि । सञ्चारेण पूतानि **सञ्चारपूतानि** । **कृत्वा**-विधाय । द्यति तमः दोधातोर्नकि दिनम् । दीव्यति रविरत्र द्यति तम इति वा "दिननग्नं" [फेन-चिह्न-ब्रध्न-धेन स्तेन-च्यौक्नादयः] ॥२६८॥ औणादि०सूत्रेण नान्ते निपातने दिनं पुंक्लीबलिङ्गः । "तत्राहर्दिवसो दिनम्, दिवं द्युर्वासरो घस्रः" इति हैमः[२] । दिनस्य अन्तो दिनान्तः, तस्मिन् **दिनान्ते**-सायंकाले । निलीयतेऽत्रेति निपूर्वात् 'ली'धातोः अचि निलयः "गृहे, आवासस्थाने च" । तस्मै **निलयाय**-अस्तमयाय । धेनुपक्षे आलयादे(यै)व **गन्तुं प्रचक्रमे**-उपक्रान्तवती । 'प्रोपादारम्भे (३।३।५१॥) इति **'श्रीसि०हे०श०'** सूत्रेण 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' [१।३।४२॥] इति **पाणिनीय**-सूत्रेण चाऽऽत्मनेपदम् ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - पल्लवरागताम्रया पतङ्गस्य प्रभया मुनेर्धेन्वा च दिगन्तराणि सञ्चारपूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ॥

अभिनवकिसलयरागरक्ता सूर्यकान्तिर्वशिष्ठनन्दिनी च सर्वं दिनं वने निखिलानि दिगन्तभागान् निजसञ्चरणेन पवित्रीकुर्वाणा सन्ध्यासमयेऽस्त-मयाभिमुखी निजस्थानाभिमुखी च जाता, इति सरलार्थः ॥१५॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

तामिति । मध्ये भवः मध्यमः । लोक्यतेऽसाविति लोकृधातोः कर्मणि घञि लोकः । मध्यमश्चाऽसौ लोकश्च मध्यमलोकः । मध्यमलोकं पालयतीति **मध्यमलोकपालः**-मर्त्यलोकाधिपः । देवन्ते इति देवाः, देवा एव देवधातोः स्वार्थे तलि देवताः । "क्वचित् स्वार्थिका अपि प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते" इति **भाष्योक्तेः** स्त्रीत्वम् । 'देवता इन्द्रादौ सुरे' । पान्तीति पाधातोः तृचि पितरः । अतन्ति सततं गच्छन्ति न तिष्ठन्ति एकत्रेति अत्धातोः इथिनि अतिथयः । "अतिथिः अध्वयोगेन, आगन्तुके, गृहागते, विषये च" । तस्य इन्द्रियेषु संसर्गमात्रकाल एव चेतसि स्थितिर्नोत्तरकालमिति

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २७०९ ।
२. अभि० चि० द्वि० - १३८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतिः अनुमीयते। "स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते" इत्यमरः । अथवा नाऽस्ति तिथिर्येषां तेऽतिथयः ।

तथा चाऽऽह- तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥१॥

इति कारिकोक्त्या तु सर्वत्यागवान् समभावभावितात्माऽनगार एव गृह्यते। गृहागतः प्राघूर्णकादिस्तु अभ्यागतशब्देनोच्यते' अत्र तु न तथा। देवताश्च पितरश्च अतिथयश्च देवतापित्रतिथयः। क्रियते इति कृधातोर्भावे शप्रत्यये टापि च क्रिया। "क्रिया आरम्भे, चेष्टायां, इन्द्रियव्यापारे, पाकादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते, फलव्यापाररूपे, धातोरर्थे, निष्कृतौ, पूजायां, शिक्षायां, चिकित्सायां, करणे, गर्भधानादिसंस्कारे, व्यवहारपादविशेषे च"। देवतापित्रतिथीनां क्रियाः यागश्राद्धदानादिकाः। **जैनमते** तु स्तवनभक्तिसत्कारादिकाः देवतापित्रतिथिक्रियाः। अर्यते-गम्यते-प्राप्यते इत्यर्थः, अथवा **अर्थ्यते**ऽसाविति अर्थधातोरचि अर्थः। देवतापित्रतिथिक्रिया एव अर्थः-प्रयोजनं यस्याः सा देवतापित्रतिथिक्रियार्था, तां **देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम्**।

तां धेनुम्। अनु अञ्चतीति अनुपूर्वात् अञ्च्धातोः क्विपि **अन्वक्**-अनुपदम्। **ययौ**-जगाम। **सताम्**-उत्तमानाम्।

केषाञ्चिन्मते 'मनण्-पूजायां' युजादिः। 'मनिण्-स्तम्भे' स्तम्भो गर्वः, चुरादिरात्मनेपदी, पक्षे मनतीति चन्द्रः। अन्यत्र 'मनिच्-ज्ञाने' दिवादिः। 'मनूयि-बोधने तनादिः। अत्र तु गर्वार्थो न संभवति, तेन मन्यतेऽसाविति 'ज्ञानेच्छार्चार्थञीच्छील्यादिभ्यः क्तः' (५।२।९२॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च [३।२।१८८॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च वर्तमाने 'क्ते' मतः, तेन **मतेन**-मान्येन। सतामित्यत्र 'कर्मणि कृतः' (२।२।८३॥) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रेण 'क्तस्य च वर्तमाने' [२।३।६७॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च षष्ठी। तेन सतां मतेन, सद्भिः मान्येन, **तेन**-राज्ञा। उपपद्यते स्मेति **उपपन्ना**-युक्ता। **सा**-धेनुः। सतां मतेन विधीयते इति विधिः, तेन **विधिना**-अनुष्ठानेन उपपन्ना-युक्ता। **साक्षात्**-प्रत्यक्षा, **श्रद्धा**-आस्तिक्यबुद्धिरिव। **बभौ**-शुशुभे।

'सद्भिर्मान्येन विधिना युक्ता श्रद्धोपपन्नेति' कथनेन **ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः** इति **जैनसूत्रं** सत्यापयति। श्रद्धां विना व्यवहारोऽपि नोपपद्यते। यथाऽस्याऽयं

१. अम० द्वि० ब्रह्मवर्गे - १४२०।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

पुत्र इति व्यवहारोऽपि श्रद्धयैव, तर्हि अतीन्द्रियसूक्ष्मपदार्थावबोधे ज्ञानिवचनस्य श्रद्धां विना न निर्वाहो भवति । केवला श्रद्धाऽपि नाऽर्थवती, न केवला प्रज्ञाऽपि। अन्यथा केवलया श्रद्धया **शाक्तानां** पञ्चमकारासेवनादेव मुक्तिरित्यादीनामपि सार्थक्यं स्यात् । केवलया च प्रज्ञया कस्याऽहं पुत्र इत्यपि निर्णयो न स्यात् । अत एवाऽत्र श्रद्धाशब्देन प्रज्ञाविशिष्टा श्रद्धा ग्राह्या । तथा च तस्य पर्यायः आस्तिक्यबुद्धिरिति प्रज्ञाविशिष्टा केवला श्रद्धा शोभनाऽपि सदनुष्ठानं विना न शोभतेतराम् । एवं धेनुरपि तेन राज्ञा युक्ता शोभते । ज्ञानक्रियानययोः शास्त्रे **उपालम्भवचनानि तु अर्थवादपराणि** इति न्यायाचार्य-न्यायविशारदबिरुदैः पूज्यैः **श्रीयशोविजयवाचकैः 'खण्डनखण्डखाद्ये'** समर्थितम् ॥

अत एव सतां मतेन विधिनोपपन्नेत्युक्तम् । **एतेन** सद्विधेरपि प्राबल्यं **यज्जैनशास्त्रकारैः** प्रतिपादितं तत्समर्थितम् । तथा चाऽऽह–

आसन्नसिद्धियाणं विहिपरिणामो य होइ सयकालं ।
विहिचाओ अविहिभत्ती अभव्वजिअदूरभव्वाणं ॥१॥

धन्नाणं विहिजोगो विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणी धन्ना विहिपक्ख-अदूसगा धन्ना ॥२॥

विहिकरणं गुणिराओ अविहिच्चाओ य पवयणुज्जोओ ।
अरिहंतसुगुरुसेवा इमाइं सम्मत्तलिंगाइं ॥३॥

किञ्च व्यवहारलोपकानां चरणकरणनाशकत्वं तीर्थनाशकत्वं च **जैनशास्त्र** उक्तम् ।

यदाहुः- निच्छयमवलंबंता निच्छयओ निच्छयं अयाणंता ।
नासंति चरणकरणं बाहिरकिरियालसा केई ॥१॥

इत्योघनिर्युक्तौ ।

"ववहारनउच्छेए तित्थुच्छेओ जओवस्सं"

इति **व्यवहारभाष्ये** ।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- सा देवतापित्रतिथिक्रियार्था अन्वग् ययेमध्यमलोकपालेन बभे च तया तेन सतां मतेन श्रद्धयेव साक्षात् विधिनोपपन्नया ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

स पल्वलेति । यद्यपि नानाशक्यतावच्छेदकधर्मत्वे शक्तौ सन्देहः, तथाऽपि शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकैक्ये न शक्तौ सन्देहः इति **नैयायिक**- निष्कर्षः । एवं च तच्छब्दस्य बुद्धिस्थत्वोपलक्षिततत्तद्धर्मावच्छिन्ने शक्तत्वेन शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकरूपस्य उपलक्षणीभूतबुद्धिस्थत्वधर्मस्यैकत्वेन तत्पदशक्तौ न सन्देहः । अत्र तच्छब्देन दिलीपत्वस्य बुद्धिस्थत्वात् तच्छब्देन दिलीप एव ग्राह्यः । **स** दिलीपः ।

उत्तीर्यन्ते स्मेति उत्तीर्णानि । वरायाऽभीष्टाय मुस्तादिलाभायाऽऽहन्ति-खनन्ति भूमिम् इति वराहः, आङ्पूर्वात्(हन्)धातोः 'डः' । "शूकरे स्त्रियां ङीप्, यज्ञवराहाख्ये, विष्णोरवतारभेदे पुं० पर्वतभेदे, मस्तके, शिशुमारे, वाराहीकन्दे, भानभेदे, द्वीपभेदे च" । वराहाणां यूथानि वराहयूथानि । पल्यतेऽसाविति 'पल् गतौ' पल्धातोः 'शमिकमिपलिभ्यो वलः' ॥४९९॥ इति औणादिके बले पल्वलः पुंक्लीबः । "वेशन्तः पल्वलोऽल्पम्" इति हैमः[१] । अल्पं-सरः । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्यः उत्तीर्णानि-निर्गतानि वराहयूथानि येषु तानि **पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि** । बर्हाणि सन्ति येषां बर्हिणः । "मयूरो बर्हिणो बर्ही इत्यमरः[२] । फलबर्हाभ्यामिनच् प्रत्ययो वक्तव्यः । आ समन्ताद् वसन्ति लोका येषु ते आवासाः । आवासानां वृक्षाः आवासवृक्षाः । उत्-ऊर्ध्वं मुखं येषां ते उन्मुखाः । आवासवृक्षाणां उन्मुखा बर्हिणो येषु तानि **आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि** ।

निशादाः बालतृणानि शष्पाणि विद्यन्ते एषु ते शाद्वलाः । 'नडशादाड्ड्वलः' (६।२।७५॥) इति **'श्रीसि०हे०श०'** सूत्रेण ङित्वलप्रत्ययः 'नडशादाद् व(ड्व)लच् [४।२।८८॥] इति **'पाणिनीय'** सूत्रेण ड्वलचि [शाद्वलः ।] "शाद्वलः शादहरिते शादः कर्दमशष्पयोः" इति **विश्वः** । "शष्पकर्दमयोः शादः" इति **शाश्वतः** । अध्यास्यन्ते स्मेति अध्यासिताः । मृग्यन्ते व्याधैरिति मृगाः । मृगैः अध्यासिताः शाद्वलाः येषु तानि **मृगाध्यासितशाद्वलानि** ।

वराहबर्हिणशष्पादिमलिनिम्नाऽश्यामानि श्यामानि भवन्तीति-श्यामाय-

१. अभि० चि० चतु० १०९५ ।
२. अम० द्वि० सिंहादिवर्गे - १०४७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानानि 'डाच्लोहितादिभ्यः षित् (३।४।३०॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण षित् क्यङ् । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' [३।१।१३॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च क्यष् । 'क्यङ्षो न वा' (३।३।४३॥) इति '**श्री सि०हे०श०**' सूत्रेण 'वा क्यषः' [१।३।९०॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण चाऽत्मनेपदे शानच् । अथवा श्यामानीवाऽऽचरन्तीति **श्यामायमानानि**, आत्मनेपदम्, तत आनश्, इति व्युत्पत्तौ '**श्रीसि०हे०श०**' 'क्यङ्' (३।४।२६॥) इति सूत्रेण क्यङ्, तत आनशः, 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' [३।१।११॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण क्यङ्ष् ततः शानच् । **वनानि** । पश्यतीति **पश्यन्**'' शतृशानौ तिसेवत्'' इति परस्मैपदे शतृप्रत्ययः । सन् । **ययौ**-जगाम ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - तेन पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्या[वा]सवृक्षोन्मुख-बर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यता (सता) यये ॥

स दिलीपः प्रत्यावर्तमानः सन्ध्यागमे पल्वलेभ्यो निर्गतानि शूकरयूथानि निशायापनार्थं चाऽऽवासवृक्षोन्मुखं च गच्छन्तो बर्हिणो(णा)श्च शष्पसाम्येषु सुखं स्थित्वा विश्राम्यमाणान् मृगान् च पश्यन् सन् दृष्ट्वा एतेषां मलिनिम्ना प्रदोषान्धकारेण श्यामायमानानि वनानि पश्यन् वशिष्ठाश्रमं प्रति जगाम, इति सरलार्थः ॥१७॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

आपीनेति । गिरति इति 'गृत्-निगरणे'इतिधातोः 'गो गृष् च' 'उणादि' ॥६४९॥ इति 'श्रीसि०हे०श०सूत्रेण गृषादेशे तिप्रत्यये च **गृष्टिः** । गृह्णाति सकृत् गर्भमिति वा ग्रह्धातोः तिच्प्रत्यये पृषोदरादित्वा'**त्पाणिनीय**' मते गृष्टिः । सकृत्प्रसूतिका गौः । ''गृष्टिः सकृत्प्रसूतिका'' इति हैमः[१] । 'सकृत्प्रसूता गौः गृष्टि'रिति **हलायुधः** । इन्दतीति इन्द्रः, नराणामिन्द्रः **नरेन्द्रः** । **उभौ**-यथाक्रमम् । आप्यायते स्मेत्यापीनम्, आङ्पूर्वात् 'ओप्यायैङ्-वृद्धौ'धातोः क्ते प्यायः पीत्वे तस्य नत्वे चाऽऽपीनम् । 'आङोऽन्धूधसोः' (४।१।९३॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'प्यायः पी' [६।१।२८॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च प्यादेशः । 'डीयश्व्यैदितः क्तयोः' (४।४।६१॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'श्वीदितो

१. अभि० चि० चतु० १२६८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्ठायाम्' [७।२।१४॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च इण्निषेधे 'सूयत्याद्योदितः' (४।२।७०॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण 'ओदितश्च' [८।२।४५॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च तस्य नत्वम् । आपीनः पुंक्लीबलिङ्गः । आपीनम् ऊधः । "ऊधस्तु क्लीबमापीनम्" इत्यमरः[1] । "आपीनमूधः" इति हैमः[2] आपीनस्य भारः आपीनभारः । उत्-ऊर्ध्वं वहनं उद्वहनम् । आपीनभारस्य उद्वहनम् आपीनभारोद्वहनम् । आपीनभारोद्वहनस्य प्रयत्नः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नः, तस्मात् **आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्** ।

वपुषः उप्यन्ते, देहान्तरभोगसाधनबीजभूतानि कर्माण्यत्रेति वप्धातोः उसि वपुस् । "वपुः शरीरे, प्रशस्ताकारे च" । तस्य **वपुषः**-शरीरस्य । गुरोः भावः गुरुत्वम्, तस्माद् **गुरुत्वात्**-स्थौल्यात् । अञ्च्येते इति पूजार्थक'अञ्चू' धातोः कर्मणि वर्तमाने क्ते ताभ्याम् **अञ्चिताभ्याम्** । मन्दमन्दगमनेन प्रशस्ताभ्याम् । गमने इति गते, ताभ्यां **गताभ्याम्** । तपसः वनं तपोवनम् । तपोवनादावृत्तिः तपोवनावृत्तिः । तपोवनावृत्तेः पन्थाः तपोवनावृत्तिपथः, तं **तपोवनावृत्तिपथम्** । 'ऋक्पूःपथ्यपोऽत् (७।३।७६॥) इति '**श्रीसि०हे०श०**' सूत्रेण समासान्तोऽत् । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे [५।४।७४॥] इति '**पाणिनीय**' सूत्रेण च समासान्तो 'अ'प्रत्ययः । **अलञ्चक्रतुः**-भूषयामासतुः ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - गृष्ट्या नरेन्द्रेण च उभाभ्यां आपीनभारोद्वहन-प्रयत्नाद् वपुषो गुरुत्वात् अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथः अलञ्चक्रे ॥

सा नन्दिनी महोधोभारात् दिलीपश्च नृपः शरीरभाराद् द्वावपि मन्दं मन्दं गमनेन तपोवनावृत्तिमार्गमलञ्चक्रतुः, इति सरलार्थः ॥१८॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

वसिष्ठधेनोरिति । अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । 'गुणाङ्गाद् [वेष्ठेयसू]' (७।३।९॥) [**सि०**] इति इष्ठे 'विन्-मतोर्नि(र्णी)ष्ठे [यसौ लुप्]' (७।४।३२॥) [**सि०**] इति मतोर्लुपि 'त्रन्त्यस्वराऽऽदेः' (७।४।४३॥) [**सि०**] इत्यन्त्यस्वरा-दिलोपे वसिष्ठः । अरुन्धती जायाऽस्येति 'जायाया जानिः' (७।३।१६४॥) इति

१. अम० द्वि० वैश्यवर्गे - १८५२ । २. अभि० चि० चतु० १२७२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[सि०] सूत्रेण जान्यादेशे अरुन्धतीजानिः । "वशिष्ठोऽरुन्धतीजानिः" इति हैमः[१] । वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठधेनुः, तस्याः **वसिष्ठधेनोः** । अनुयातीति अनुयायी, तम् **अनुयायिनम्**-अनुचरम् । वनस्याऽन्तः वनान्तः, तस्माद् **वनान्तात्** । आवर्ततेऽसौ आवर्तमानः, तम् **आवर्तमानं**-प्रत्यागतम् । **तं**-दिलीपम् । वन्यते-भज्यते स्म **वनिता**-सुदक्षिणा । "स्त्री नारी वनिता वधूः, वशा सीमन्तिनी वामा, वर्णिनी महिलाऽबला, योषा योषित्" इति हैमः[२] ।

'पच्यते विस्तीर्यते सात्मन्नात्मन् ॥९१६॥ इति 'औणादिश्रीसि०' सूत्रेण मनि निपातने, पक्ष्म पुंक्लीबलिङ्गः । "पक्ष्म स्याद् नेत्ररोमणि" इति हैमः[३] । **पञ्च्यते** इति पङ्क्तिः । "राजिर्लेखा ततिर्वीथी, मालाल्यावलिपङ्क्तयः, धोरणी **श्रेणी**" इति हैमः[४] । पक्ष्मणां पङ्क्तिः पक्ष्मपङ्क्ति । निमेषेषु । निमेषणानि निमेषाः । "**निमेषस्तु** निमीलनम्" इति हैमः[५] । न लसतीत्यलसः अलतीति वा तप्यणि-पन्यल्यपि-रधि-नभि-नम्यमि-चमि-तमि-चट्यति-पतेरसः ॥५६१॥ इति 'औणादिश्रीसि०'सूत्रेणाऽसि अलसः। "अथाऽऽलस्यः शीतकोऽलसः, मन्दस्तुन्दपरिमृजोऽनुष्णः" इति हैमः[६] । अलसा पक्ष्मपङ्क्तिर्यस्याः सा **निमेषा-लसपक्ष्मपङ्क्तिः**-निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोच्यते आभ्याम् लोचने । "चक्षुरक्षीक्षणं नेत्रं, नयनं दृष्टिरम्बकम्, लोचनं दर्शनं दृक् च" इति हैमः[७] । **लोचनाभ्यां**-करणाभ्याम् । उपवसतः स्मेति उपोषिते, ताभ्याम् **उपोषिताभ्यां**-बुभुक्षिताभ्याम् । वसतेः कर्तरि क्तः । उपवासः-भोजननिवृत्तिः । **इव** । **पपौ**-पीतवती । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति, तद्वदतितृष्णयाऽधिकं **व्यलोकयदित्यर्थः** ।

अनेनाऽर्थकरणेनाऽस्य वृत्तिकारो **मल्लिनाथः** चतुर्विधाहारत्यागरूप एव **वास्तव** उपवासः, न तु फलाहाररूपः इति ज्ञापयति । उपवासो भोजननिवृत्तिरिति व्याख्यानेन च त्रिधाहारत्यागरूपस्याऽप्युपवासत्वं सङ्गच्छत एव । अनेन **जैनमते** यत् त्रिधाहारत्यागरूपं चतुर्विधाहारत्यागरूपं वोपवासरूपं (तत्) सङ्गतिमियर्ति । चतुर्विधाहारत्यागरूप उत्कृष्टः, त्रिधाहारत्यागरूपो जघन्यः । फलाहारकरणे तु

---

१. अभि० चि० तृ० ८४९ ।
२. अभि० चि० तृ० ५०३-४ ।
३. अभि० चि० तृ० ५८० ।
४. अभि० चि० ष० १४२३ ।
५. अभि० चि० तृ० ५७८ ।
६. अभि० चि० तृ० ३८३-८४ ।
७. अभि० चि० तृ० ५७५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवासभङ्गः प्रचुरदोषसम्भवश्च ।.

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - वसिष्ठधेनोरनुयायी वनान्तादावर्तमानः सः वनितया निमेषालसपक्ष्मपङ्क्त्या सत्या लोचनाभ्यामुपोषिताभ्यामिव पपे ॥

वल्लभस्याऽदर्शनेनाऽधीरा सुदक्षिणा नन्दिन्या सह वनात् प्रत्यागच्छन्तं दयितं विलोक्य तृष्णाविस्फारितेन स्वनेत्रयुगलेन प्रियं पतिं निर्भरं ददर्श । यथा कश्चिदुपोषितः पिपासितः सन् मुहुर्मुहुः मधुरं जलं पीत्वाऽपि न शान्तिं प्राप्नोति, तथा सुदक्षिणायाः प्रियतमदर्शनवियोगतापितं नेत्रयुगलमपि सुधावत्प्रियतमरूपं मुहुर्मुहुः दृष्ट्वाऽपि न तृप्तिं लेभे, इति सरलार्थः ॥१९॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥२०॥

पुरस्कृतेति । वर्तन्तेऽनेनेति वृत्धातोः 'मन्' ॥११३॥ इति 'उणादि-श्रीसि०' सूत्रेण मन्प्रत्यये वर्त्म क्लीबलिङ्गः । "पदव्येकपदी पद्या पद्धति-र्वर्त्मवर्तनी । अयनं सरणिर्मार्गोऽध्वा पन्था निगमः सृतिः" इति हैमः[1] । तस्मिन् **वर्त्मनि** । पृथिव्याः ईशः, 'पृथिवीसर्वभूमेरीशज्ञातयोश्चाञ् (६।४।१५६॥) इति 'श्रीसि०'सूत्रेण अञि पार्थिवः, 'तस्येश्वरः' [५।४।४२॥] इति **'पाणिनीय'** सूत्रेण वाऽञि प्रत्यये पार्थिवः । "राजा राट् पृथिवीशक्रमध्यलोकेशभूभृतः । महीक्षित् पार्थिवो मूर्धाभिषिक्तो भूप्रजानृपः" इति हैमः[2] । तेन **पार्थिवेन** । पूर्वे देशे पुरः पुरस्तात् इति 'पूर्वावराधरे[भ्यो]ऽसस्तातौ पुरवधश्चैषाम् (७।२।११५॥) इति **'श्रीसि०'**सूत्रेण 'अस्-अस्तात्' प्रत्ययौ पुरादेशश्च । "पुरः पुरस्तात् पुरतोऽग्रतश्च (तः)" इति हैमः[3] । कृधातोः कर्मणि क्ते **'सिद्धहेम'**मते आपि **'पाणि०'**मते टापि च कृता । पुरः कृता **पुरस्कृता** । धरतीति धृधातोः 'अर्तीरिस्तु-सु-हु-सृ-घृ-धृ-सृ-क्षि-यक्षि-भा-वा-व्या-धा-पा-या-वलि-पदि-नीभ्यो मः ॥३३८॥ इति 'उणादिश्रीसि०'सूत्रेण 'म'प्रत्यये धर्मः ।

दुर्गतिप्रसृताञ्जन्तून्यस्माद् धारयते ततः ।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्मः इति स्मृतः ॥

"धर्मः पुण्यं वृषः श्रेयः सुकृते" इति हैमः[4] । **'पाणि०'** मते धृधातोः

---

१. अभि० चि० चतु० ९८३ । २. अभि० चि० तृ० ६८९-९० ।
३. अभि० चि० ष० १५२९ । ४. अभि० चि० ष० १३७९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनि "धर्मः पुंनपुंलि० शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानजन्ये, भाविफलसाधनभूते, शुभादृष्टे। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। 'श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्म' इत्युक्ते, श्रौते, स्मार्ते कर्मणि, 'विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसां गुणो मतः' - इत्युक्ते, कर्मजन्ये, अदृष्टे, आत्मनि, 'देहधारणात्' जीवे, आचारे, वस्त्रगुणरूपे, स्वभावे, उपमायां, यागादौ, अहिंसायां, न्याये, उपनिषदि, यमे, सोमाध्यायिनि, सत्सङ्गे, धनुषि, ज्योतिषोक्ते, लग्नात् नवमस्थाने च; दानादौ नपुं०"। इह तु शुभादृष्टं धर्मो यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसुसत्सङ्गेर्हत्यहिंसादौ न्यायोपनिषदोरपि। "धर्मं दानादिके" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[1]।

पातीति पाधातोः 'पातेर्वा' ॥६५९॥ इति 'उ०श्रीसि०' सूत्रेण ङीप्रत्यये नान्तागमे च पत्नी। "अथ सधर्मिणी पत्नी सहचरी पाणिगृहीती गृहिणी गृहाः दाराः क्षेत्रं वधूर्भार्या जनी जाया परिग्रहः द्वितीयोढा कलत्रं च" इति हैमः[2]। अथवा **'पाणिनीय'**मते [पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३॥ इति] पतिशब्दात् यज्ञसम्बन्धे ङीपि नुकि च पत्नी, पतिकृतयज्ञवत्यां विधिनोढायां योषिति। **'सिद्धहेम**मते धर्माय पत्नी, **'पाणि०'**मते च धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी। पार्थिवस्य धर्मपत्नी पार्थिवधर्मपत्नी, तया **पार्थिवधर्मपत्न्या**।

प्रत्युद्गम्यते स्मेति **प्रत्युद्गता**। **सा**। धयति एनाम् **धेनुः**। तयोर्दम्पत्योरन्तरे **तदन्तरे**-मध्ये। अन्तरे इति सप्तम्यन्तप्रतिरूपकमव्ययम्। "मध्येन्तरन्तरेणान्तरेऽन्तरा" इति हैमः[3]। अथवा **'पा०'**मते अन्तरेति 'इण्'धातोः विचि अन्तरे(रं) यद्वा अनितीत्यन्तरं पुंक्लीबलिङ्गः। 'अनि-काभ्यां तरः" ॥४३७॥ इति 'उ०श्रीसि०' सूत्रेण अन्धातोः 'तर'प्रत्यये अन्तरम्। "मध्यमन्तरे" इति हैमः[4]। **'पाणि०'**मते तु अन्तं राति-ददातीति राधातोः कप्रत्यये "अन्तरम् अवकाशे, अवधौ परिधानांशुके, अन्तर्धाने, भेदे, परस्परवैलक्षण्ये, विशेषे, तदर्थे, छिद्रे, आत्मीये, विनार्थे, बहिरर्थे, व्यवधाने, मध्ये, सदृशे च।" तयोरन्तरं तदन्तरं, तस्मिन् **तदन्तरे**। दीव्यति रविरत्र द्यति तम इति वा दिनम्। क्षिप्यते इति 'भिदाद्यङ् (दयः)' (५।३।१०८॥) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण क्षिप्धातोरङि क्षपा। "निशा निशीथिनी रात्रिः शर्वरी क्षणदा क्षपा त्रियामा यामिनी भौती तमी

---

१. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ३२०। २. अभि० चि० तृ० ५१२-१३।
३. अभि० चि० ष० १५३८। ४. अभि० चि० ष० १४६०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तमा विभावरी रजनी वसतिः श्यामा वासतेयी तमस्विनी उषा दोषेन्दुकान्ता" इति हैमः[१] । यद्वा '**पा०**'मते क्षपयति चेष्टामिति क्षैधातोः णिचि पुकि च क्षपा रात्रौ । दिनं च क्षपा च दिनक्षपे । 'मव्-बन्धने' मव्यत इति 'शिक्यास्याढ्य-मध्य-विन्ध्य-धिष्ण्याघ्न्यहर्म्य-सत्य-नित्यादयः" ॥३६४॥ इति 'उणादिश्रीसि०'-सूत्रेण वस्य धेयान्ते (धत्वे) च निपातने मध्यम् । "मध्यमन्तरे" [इति हैमः[२]] । स्वरभेदेऽपि "ते मन्द्र-मध्य-तारा स्युरुरः कण्ठ शिरोद्भवाः" इति हैमः[३] ।

दत्तिलोऽपि आह-

नृणामुरसि मन्द्रस्तु द्वाविंशतिविधो ध्वनिः ।
स एव कण्ठे मध्यः स्यात्तारः शिरसि गीयते ॥१॥

मध्यं लयविशेषः । "द्रुतं विलम्बितं मध्यमोघस्तत्वं घनं क्रमात्" इति हैमः[४] ।

भागुरिरप्याऽऽह- "लम्बितद्रुतमध्यानि तत्त्वौघानुगतानि तु" । इति ।

मव्यते बध्यते मे स्वराद्यत्र मध्यः । "मध्योऽवलग्नं विलग्नं मध्यमः" इति हैमः[५] । '**पाणि०**'मते तु मन्धातोः यकि नस्य घे च निरुक्तेः मध्यं पुं० न० । "देहस्याऽवयवभेदे, नृत्यादौ, मन्दत्वशीघ्रत्वभिन्ने, व्यापारभेदे, पूर्वापरसीमयोरन्तराले, परार्ध्यसङ्ख्यातोऽर्वाचीनायां सङ्ख्यायां, न० तत्सङ्ख्याते च" । "अन्त्यं मध्यं परार्ध्यं चे" ति **लीलावती** । "ज्योतिषोक्ते, ग्रहाणां गतिभेदे स्त्री०, तद्वति ग्रहे पु०, न्याय्ये, अन्तवर्तिनि च त्रिलि०" । "मध्यं न्याय्येऽवलग्ने अन्तर्" इति अनेकार्थसंग्रहः[६] । इह त्वन्तः दिनक्षपयोर्मध्यं दिनक्षपामध्यम् । गम्यते स्मेति गता । दिनक्षपामध्यं गता **दिनक्षपामध्यगता** ।

सन्ध्यायन्त्यस्यामिति, यद्वा सज्येते सन्धीयेत अहोरात्रावस्यामिति सञ्ज्धातोः 'सञ्जेर्ध् च' ॥३५९॥ इति 'उ०श्रीसि०'सूत्रेण यप्रत्ययो धोऽन्तादेशश्चेति सन्ध्या । "सन्ध्या तु पितृसूः" इति हैमः[७] । यद्वा '**पा०**'मते सम्पूर्वात्

---

१. अभि० चि० द्वि० १४१-४२-४३ ।
२. अभि० चि० ष० १४६० ।
३. अभि० चि० ष० १४०२ ।
४. अभि० चि० द्वि० २९२ ।
५. अभि० चि० तृ० ६०७ ।
६. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ३६५ ।
७. अभि० चि० द्वि० १४० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यैधातोरङि सन्धिः । सन्धिशब्दात् 'भवार्थे यति वेति'' **सन्ध्या** । एकरूपकालोत्तरभाविपररूपकालस्याऽवकाशे, दिवारात्रस्य मध्यवर्त्तिकाले । स च दिवाशेषदण्डसहितरात्रिप्रथमदण्डात्मकः कालः । तयोश्चतुर्दण्डात्मककालश्च ।

''त्रियामां रजनीं प्राहुस्त्यक्त्वाऽऽद्यन्तचतुष्टये ।
नाडीनां तदुभे सन्ध्ये दिवसाद्यन्तसंज्ञिते'' ॥
इति **स्मृतिः** ।

''अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः ।
सा च सन्ध्या समाख्याता'' ॥ इति **स्मृतिः** ।

''सायाह्ने सन्ध्याकाले उपास्यदेवताभेदे । तदुपासना-याज्ञा ।
सन्ध्यामुपासते ये तु, नियतं शंसितव्रताः ॥'' इति **स्मृतिः** ।

''प्रातः सन्ध्यां ततः कृत्वा सङ्कल्पं बुध आचरेत्'' । इति **स्मृतिः** ।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च प्रकीर्तितः ॥

इत्युक्ते, युगसन्धिकाले, नदीभेदे, ब्रह्मपत्नीभेदे, चिन्तायां, संश्रवे, सीमायां, सन्धाने च'' । अत्र तु दिवारात्रस्य मध्यकालः सन्ध्या । **इव**- 'इवि-व्याप्तौ' धातोः कप्रत्यये इव अव्ययं सादृश्ये उत्प्रेक्षायां ईषदर्थे वाक्यालङ्कारे च । इह तु उत्प्रेक्षायाम् । **विरराज**-शुशुभे ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृतया पार्थिवधर्मपत्न्या च प्रत्युद्गतया तया धेन्वा तदन्तरे दिनक्षपामध्यगतया सन्ध्ययेव विरेजे ॥

मार्गे महिषी धेनोरग्रतः पश्चात् दिलीपश्च यथा दिननिशयोः मध्ये स्थिता (किसलयरागारुणा) सन्ध्या चकास्ति तथैव तयोः सुदक्षिणादिलीपयोर्मध्येऽवस्थिता नन्दिन्यपि दिदीपे, इति सरलार्थः ॥२०॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चाऽऽनर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवाऽर्थसिद्धेः ॥२१॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । न क्षप्यन्ते इत्यक्षताः पुंक्लीबलिङ्गः । पुंसि अयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुचनान्तः । "लाजाः स्युः पुनरक्षताः" इति हैमः[1] । पाति-रक्षति आधेयं, पीयतेऽस्मादिति वा पात्रं त्रिलिङ्गः । "पात्रामत्रे तु भाण्डम्(भाजनं)" इति हैमः[2] । पिबन्ति अनेन इति पात्रम् । 'नी-दाव्-शस्-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-पा-नहस्त्रट् (५।२।८८॥) इति '**श्रीसि०**'सूत्रेण त्रट्, '**पा०**'मते पाधातोष्ट्रन् । "पात्रं स्रुवादिकम्" इति हैमः[3] । पीयते इति पात्रं प्रवाहः त्रिलिङ्गः । "पात्रं तदनन्तरम्" इति हैमः[4] । पान्ति स्वभूमिकामिति पात्राणि 'त्रट्' ॥४४६॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण पाधातोः त्रट् । "पात्राणि नाट्येऽधिकृताः" इति हैमः[5] । पापात् त्रायते इति निरुक्तिवशात् पात्रम् । "पात्रं जलाद्याधारे, भोजनयोग्येऽमत्रे, ज्ञानचरणयुक्ते, दानयोग्ये, मुनौ, यज्ञीये, स्रुवादौ, तीरद्वयमध्यवर्त्तिनि, जलाधारस्थाने, नाटकेऽभिनये, नायकादौ च नपुंसकः" । अत्र तु पात्रममत्रम् । अक्षतानां पात्रम् अक्षतपात्रम् । अक्षतपात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्रौ । हसतीति हस्तः- 'दम्यमि-तमि-मा-वा-पू-धू-गृ-जृ-हसि-वस्यसि वितसि मसीण्भ्यस्तः' ॥२००॥ इति '[उ] श्रीसि०' सूत्रेण 'हसे-हसने'धातोः ते हस्तः-नक्षत्रविशेषः । "हस्तः सवितृदेवतः" [इति हैमः[6]] । हसत्यनेन हस्तः पुंक्लीबलिङ्गः । हसद्भिः मुखे दीयते वा हस्तः । "पञ्चशाखः शयः शमः हस्तः पाणिः करः" इति हैमः[7] । "हस्तः प्रामाणिको मध्ये मध्यमाङ्गुलिकर्पू(कूर्प)रम्" इति हैमः[8] । हस्तोऽङ्गुलविंशत्या चतुरन्वितया इति तदर्थः । "चतुर्विंशत्यङ्गुलानां हस्तः" इति हैमः[9] । हस्यतेऽनेन इति हस्तः । "हस्तिनासा करः शुण्डा हस्तः" इति हैमः[10] । अत्र हस्तक्रियाकारित्वात् हस्तः । '**पाणिनीय**'मते तु हस्धातोः तनि हस्तः पुं० । "हस्तः देहावयवभेदे चतुर्विंशत्यङ्गुलपरिमाणे ।

'यवोदरैरङ्गुलमष्टसङ्ख्यैः हस्तोऽङ्गुलैः षड्गुणितैश्चतुर्भिः' इति **लीलावती** ।

हस्तिशुण्डे च, अश्विन्यादिषु त्रयोदशे नक्षत्रे पुं० स्त्री० 'जाह्नवी हस्तयोगे' इति **पुराणम्** । 'पुष्या हस्ता तथा स्वातिः' इति **ज्योतिषम्** । समूहे च यथा

१. अभि० चि० तृ० ४०१ ।
२. अभि० चि० च० १०२६ ।
३. अभि० चि० तृ० ८२८ ।
४. अभि० चि० च० १०७९ ।
५. अभि० चि० द्वि० ३२७
६. अभि० चि० द्वि० ११२ ।
७. अभि० चि० तृ० ५९१ ।
८. अभि० चि० तृ० ५९९ ।
९. अभि० चि० तृ० ८८७ ।
१०. अभि० चि० च० १२२४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केशहस्तः । अत्र तु देहावयवभेदो हस्तः । साक्षातपात्रौ हस्तौ यस्याः सा **साक्षतपात्रहस्ता** । अथवा अक्षतैः सह वर्तमानं साक्षतम् । साक्षतं पात्रं हस्तयोः यस्याः सा **साक्षतपात्रहस्ता** । यदि वा सा इति व्यस्तं, अक्षतपात्रं हस्तयोः यस्याः **सा अक्षतपात्रहस्ता** । सा **सुदक्षिणा** ।

प्रशस्तं पयोऽस्त्यस्याः सा, पयःशब्दात् प्रशस्ते विनि ङीपि च पयस्विनी, तां **पयस्विनीम्**-प्रशस्तक्षीराम् । **तां** धेनुम् । **प्रदक्षिणीकृत्य**-परिक्रम्य । **प्रणम्य च** । **अस्याः** धेन्वाः 'वेर्विस्तृते शालशङ्कटौ (७।१।१२३।।) इति '**श्रीसि०**'सूत्रेण **विशालं** विशङ्कटं साधू । "विशालं तु विशङ्कटम्, पृथूरु पृथुलं व्यूढं विकटं विपुलं बृहत् । स्फारं वरिष्ठं विस्तीर्णं ततं बहु महद् गुरु" इति हैमः[1]। "विशङ्कटं पृथु बृहत् विशालं पृथुलं महत्" इत्यमरः[2] ।

शृणातीति शृङ्गम्- 'शृङ्गशाङ्र्गादयः ।।९६।। इति 'उणादिश्रीसि०'सूत्रेण शृधातोर्गान्तो निपातः । "विषाणं कूणिका शृङ्गम्" इति हैमः[3]। शीर्यते निर्घातेनेति वा शृङ्गम्-शिखरम् । "शृङ्गं तु शिखरं कूटम्" इति हैमः[4]। अथवा शृधातोर्गाने पृषोदरादित्वान्मुमागमे ह्रस्वे च "शृङ्गं न० पर्वतोपरिभागे, प्राधान्ये, चिह्ने, जलक्रीडार्थयन्त्रभेदे, 'पीचकारी'ति लोकप्रसिद्धे, कामोद्रेके, पश्चादेर्विषाणे, महिषशृङ्गनिर्मितवाद्यभेदे, उत्कर्षे, ऊर्ध्वे, तीक्ष्णे, पद्मे च; कूर्चशीर्षकवृक्षे च पुं०" । अत्र तु शृङ्गं विषाणम् । शृङ्गयोरन्तरं **शृङ्गान्तरम्**, शृङ्गमध्यदेशं ललाटपट्टमिति यावत् ।

अर्यतेऽसौ अर्थः । 'कमि-प्रु-गार्तिभ्यस्थः' ।।२२५।। इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण ऋधातोः थः । अथवा अर्थ्यते इति अर्थः । "कार्यं स्यादर्थः कृत्यं प्रयोजनम्" इति हैमः[5] । अथवा 'अर्थ-याचने' अदादिः चुरादिः आत्म० द्वि० सेट्, अर्थयते आर्तिथत् मतान्तरे अर्थापयते आर्तथापत इति "अर्थः पुंभावकर्मादौ, यथायथं अच्विषये, अभिधेये, धने, वस्तुनि, प्रयोजने, निवृत्तौ, हेतौ, प्रकारे, अभिलाषे, उद्देश्ये तु" । अत्र तु प्रयोजनमुद्देश्यमित्यादि यथायोगम् ।

---

१. अभि० चि० ष० १४२९-३० ।
२. अन० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २१४५ ।
३. अभि० चि० च० १२६४ ।
४. अभि० चि० च० १०३२ ।
५. अभि० चि० ष० १५१४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध्यति अस्यामिति सिद्धिः इति हैमः । अथवा सेधनं सिद्धिरिति सिध्धातोः क्तिनि (क्तौ) "सिद्धिः ऋद्धिनामौषधे, (दुर्वायाम्) योगेभेदे, ऽन्तर्धाने, निष्पत्तौ, पाके, पादुकायां, मोक्षे, वृद्धौ, सम्पत्तौ, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ये, बुद्धौ, साध्यवत्तया निश्चये, दक्षकन्याभेदे च ।" अत्र तुः निष्पत्तिः । अर्थस्य सिद्धिः अर्थसिद्धिः, तस्याः **अर्थसिद्धेः**-कार्यनिष्पत्तेः ।

उभ्यते पूर्यते इति द्वारम् । 'द्वार-शृङ्गार-भृङ्गार-कल्हार-कान्तार-केदार-खारडादयः ॥४११॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'उम्भत् पूरणे'इतिधातोः द्वादेशे आरप्रत्यये च द्वारम् । द्वारयतीति वा तत्र **द्वारम्** । "वलजं प्रतीहारो द्वाद्वरि" इति हैमः[1] । **'पाणि०'**मते तु द्वारं न० । द्वृधातोर्णिचि अचि च "द्वारं गृहादिनिर्गमनस्थाने, प्रतीहारे, उपाये, मुखे च" । अत्र तु द्वारं प्रवेशमार्गम् । **इव**। **आनर्च**-अर्चयामास-पूजयामास इति यावत् । अर्चतेः भौवादिकात् परोक्षा, **'पाणि०'**मते लिट् ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्-साक्षतपात्रहस्तया सुदक्षिणया तां पयस्विनीं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य चाऽस्या विशालं शृङ्गान्तरमर्थसिद्धेः द्वारमिवाऽऽनर्चे ॥

ततः सुदक्षिणा तन्दुलादिसहितमर्घभाजनमादाय शुभ्रक्षीरां तां **गां प्रथमं** प्रदक्षिणक्रियया सन्मानितां चकार; पश्चाच्च तां प्रणम्याऽर्थसिद्धेः प्रवेशमार्गमिव तस्याः शृङ्गयोः मध्यस्थानमर्घ्यदानेन पूजितवती, इति सरलार्थः ॥२१॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

वत्सेति । **सा** धेनुः-वदति मातरं दृष्ट्वेति **वत्सः** । 'मा-वा-वद्यमि-कमि-हानि-मानि-कष्यशि-पचि-मुचि-यजि-वृ-तृभ्यः सः' ॥५६४ ॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण वदिधातोः से वत्सः । "वत्सः शकृत् करिस्तर्णः" इति हैमः[2] । वदत्यनेनेत्यपि वत्सः पुंक्लीबलिङ्गः । "क्रोडोरो हृदयस्थानं वक्षो वत्सो भुजान्तरम् " इति हैमः[3] । उत्सुमद्गतं मनो अस्य उत्सुकः । 'उदुत्सोरुन्मनसि'

---

१. अभि० चि० च० १००४ ।

२. अभि० चि० च० १२६० ।

३. अभि० चि० तृ० ६०२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७।१।१९२॥) इति '**श्रीसि०**'सूत्रेण उत्सुशब्दात् अस्येत्युन्मनस्यभिधेये कप्रत्यये उत्सुकः । "उत्कस्तूत्सुकः उन्मनाः उत्कण्ठितः" इति हैमः[1] । 'पाणिनीय'मते तु उत्सुकस्त्रिलिङ्गः । उत्पूर्वात् सूधातोः क्विप्कनि ह्रस्वे उत्सुकः । "इष्टार्थ-संपादनायोद्युक्ते, अभीष्टो गमिष्यतीति उत्कण्ठान्विते च ।" वत्से उत्सुका **वत्सोत्सुका** । **अपि** अव्ययं-न पीयति गच्छतीति 'पि-गतौ' धातोः क्विप् न तुक् । "अशक्यकरणायोद्यमरूपायां, शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिरूपायां वा, संभावनायां, स्नेहे, निन्दायां, प्रश्ने, समुच्चये, अल्पपदार्थे, कामचारानुज्ञायाम्, अवधारणे, पुनरर्थे च" । अत्र तु पुनरर्थे । स्ववत्सदर्शनोत्कण्ठिताऽपि । स्तिम्यति स्मेति **स्तिमिता** । "तिमिते स्तिमितक्लिन्नसार्द्रार्द्रोन्नां समुत्तवत्" इति हैमः[2] । 'पाणि०' मते तु "स्तिमित' नपुं०लिङ्गाः । स्तिम्धातोः भावे क्तः । "आर्द्रतायाम्, अचाञ्चल्ये च" । कर्तरि क्तः, "अचञ्चले आर्द्रे च त्रिलिङ्गः" अत्र त्वचञ्चलार्थः । स्तिमिता निश्चला सती ।

'सपर्-पूजायाम्' इति कण्ड्वादिधातोः 'धातोः कण्ड्वादेर्यक्' (३।४।८॥) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण यकि 'शंसिप्रत्ययात्' (५।३।१०५॥) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण 'अ'प्रत्यये आपि सपर्या । "पूजार्हणा सपर्याऽर्चा" इति हैमः[3] । "पूजा त्वपचितिः" इति हैमशेषः[4] । "पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः" इत्यमरः[5] । '**पा०**' मते तु सपरधातोः यकि अप्रत्यये टापि च सपर्या पूजायाम् ।" सोऽहं सपर्याविधिभाजनेने"ति अग्रे रघौ । ताम् **सपर्याम्**-पूजाम् । **प्रत्यग्रहीत्**-स्वीचकार । इण्धातोः क्तिचि । इतीति अव्ययं, "हेतौ, प्रकाशने, निदर्शने, प्रकारे, अनुकर्षे, समाप्तौ, प्रकरणे, स्वरूपे, सान्निध्ये, विवक्षानियमे, मते, प्रत्यक्षे, अवधारणे, व्यवस्थायां, परामर्शे, माने, इत्थमर्थे, प्रकर्षे, उपक्रमे च ।" अत्र तु हेतुरर्थः । **इति**-हेतोः । वत्सावलोकनौत्सुक्येऽपि निश्चलभावेन पूजास्वीकारात् हेतोः इति भावः ।

---

१. अभि० चि० तृ० ४३६ ।

२. अभि० चि० ष० १४९२ ।

३. अभि० चि० तृ० ४४७ ।

४. अभि० चि० हैमशेषे - १०५ ।

५. अम० द्वि० ब्रह्मवर्गे - १४२१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तौ-दम्पती । **ननन्दतुः** - आनन्दं प्रापतुः । पूजास्वीकारस्य आनन्द-हेतुत्वमाह- 'हि वर्धने गतौ च' स्वादिः पर० सक० अनिट् । हिनोति अहैषीत् । हाधातोः हिधातोर्वा अप्रत्यये हि, अव्ययं, "हेतौ, अवधारणे, विशेषे, प्रश्ने, संभ्रमे, हेतूपदेशे, शोके, असूयायां, पादपूरणे, च" । अत्र तु हेतौ हेतूपदेशार्थे वा **हि** । भजनं भक्तिः । "अथ सेवा भक्तिः परिचर्या प्रसादना शुश्रूषाऽऽ-राधनोपास्तिवरिवस्यापरीष्टयः उपचारः" इति हैमः[1] । "पर्येषणा परीष्टिश्च" (श्राद्धे द्विजशुश्रूषा) इत्यमरः[2] । पूज्येषु अनुरागो भक्तिः । 'पाणि०' मते भज्धातोः क्तिनि "भक्तिः स्त्रीलिङ्गः, "सेवायां, आराधनायां, तदेकाग्रचित्तवृत्तिभेदे, विभागे, गौण्यां वृत्तौ, उपचारे, अवयवे, भङ्ग्यां, श्रद्धायां, स्वनायां च" । "भवति विरलभक्तिः" इत्यग्रे रघौ, भक्तिशब्दसम्बन्धेन भक्तिरेव योगः भक्तियोगः । तदेकाग्रतारूप-चित्तवृत्तिरूपे योगे एवमेव भक्तिरेव रसः भक्तिरस आस्वाद्यः भक्तिरूपे, ध्येयानुभवात्मके, रतिभेदे ।

अत्र भक्तिशब्दप्रस्तावात् प्रासङ्गिकं जिनशासनप्रतिपादितं भक्तिस्वरूपं कथ्यते- तत्राऽर्हद्विषया भक्तिः कर्त्रभिप्रायभेदेन सात्त्विकी राजसी तामसीति भेदात् त्रिविधोच्यते ।

तत्स्वरूपं चेदम्-

सात्त्विकी राजसी भक्तिस्तामसीति त्रिधाऽथवा ।
जन्तोस्तत्तदभिप्रायविशेषादर्हतो भवेत् ॥१॥

अर्हत्सम्यग्गुणश्रेणी-परिज्ञानैकपूर्वकम् ।
अमुञ्चता मनोरङ्गमुपसर्गेऽपि भूयसि ॥२॥

अर्हत्सम्बन्धिकार्यार्थं सर्वस्वमपि दित्सुना ।
भव्याङ्गिना महोत्साहात् क्रियते या निरन्तरम् ॥३॥

भक्तिः शक्त्यनुसारेण निःस्पृहाशयवृत्तिना ।
सा सात्त्विकी भवेद् भक्तिर्लोकद्वयफलावहा ॥४॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

---

१. अभि० चि० तृ० ४९६-९७ ।

२. अम० द्वि० ब्रह्मवर्गे - १४१६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदैहिकफलप्राप्तिहेतवे कृतनिश्चया ।
लोकरञ्जनवृत्त्यर्थं राजसी भक्तिरुच्यते ॥५॥

द्विषतां तत्प्रतीकारभिदे या कृतमत्सरम् ।
दृढाशयं विधीयेत सा भक्तिस्तामसी भवेत् ॥६॥

रजस्तमोमयी भक्तिः सुप्रापा सर्वदेहिनाम् ।
दुर्लभा सात्त्विकी भक्तिः शिवावधि फलावहा ॥७॥

उत्तमा सात्त्विकी भक्तिर्मध्यमा राजसी पुनः ।
जघन्या तामसी ज्ञेया नाऽऽदृता तत्त्ववेदिभिः ॥८॥

(इति **विचारामृतसङ्ग्रहे**)

अर्हद्भक्तिफलमेवम्-

भत्तीए जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिता कम्मा ।
आयरियनमुक्कारेण विज्जामंताइ सज्झंति ॥१॥

इति साध्वी अर्हद्भक्तिः । वस्तुतोऽभिलषितार्थसाधकत्वात्, आरोग्य-बोधिलाभादेरपि तन्निर्वर्त्यत्वात् ।

तथा चाऽऽह-

भत्तीइ जिणवराणं परमाइ खीणपिज्जदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति ॥१॥

(इत्यावश्यकचतुर्विंशतिस्तवाध्ययननिर्युक्तौ)

अत्र तामस्या एव भक्तेरनादरणीयत्वोक्त्या तथाविधावस्थाकाले परम्परया सात्त्विकीहेतुतया मोक्षप्रयोजकत्वेन जिनोक्तमिति सद्बुद्ध्या क्रियमाणा किञ्चित्फलोद्देशवत्यपि राजसी भक्तिः । श्रीपालादीनामिव विधेयत्वेनैव ध्वनिता उत्तमाऽनु-सात्विक्येव सैव मोक्षप्रापिका ।

भक्तिः सेवायाम् ।, 'भक्तिः विनयः सेवे'ति **नवमषोडशकविवरणे** ।

'भक्तिरभिमुखगमनासनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धानुव्रजानादिलक्षणे'ति **प्रवचनसारोद्धारैकशताष्टचत्वारिंशद्द्वारवृत्तौ** ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अब्भुट्ठाणदंडग्गहणपायपुंछणासणपयाणगहणादीहिं सेवा जा सा भत्ती भवइत्ति" **निशीथचूर्णौ** ।

'भक्तिः उचितप्रवृत्त्या विनयकरणे' इति **आवश्यकप्रथमाध्ययन-मलयगिरिवृत्तौ** ।

'विनयवैयावृत्त्यादिरूपा प्रतिपत्तिर्भक्ति'रिति **धर्मसङ्ग्रह द्वितीयाधिकारे** ।

'यथोचितबाह्यप्रतिपत्तौ' **आवश्यकप्रथमाध्ययनमलयगिरिवृत्तौ गच्छाचारवृत्तौ धर्मरत्नवृत्तौ च** ।

'भक्तिरुचितोपचारः' इति **दशवैकालिकनवमाध्ययनप्रथमोद्देशक-वृत्तौ** ।

'अभ्युत्थानादिरूपे बहुमाने' **इत्युत्तराध्ययनप्रथमाध्ययनपाइय-टीकायाम्** ।

'भत्ती आयरकरणं जहोचियं जिणवरिंदसाहूणं' इति **संस्तारकप्रकीर्णके** ।

'अनुरागे भक्तिः' इति **धर्मसंग्रहप्रथमाधिकारे** ।

'अन्तःकरणादिप्रणिधाने भक्तिः' इति **आवश्यकद्वितीयाध्ययने दर्शनशुद्धौ च** ।

'भक्तिः स्याद्गुरुदेवादौ' इति वचनात्तु गुरुदेवादिविषयिणी इच्छा भक्तिः ।

अनुष्ठानचतुष्टये प्रीतिभक्तिवचनासङ्गात्मके तु भक्तिविशेषितानुष्ठान-स्वरूपमिदम्-

गौरवविशेषयोगाच्छुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम् ।
क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥१॥

इतरतुल्यमपीति प्रीत्यनुष्ठानसदृशमपि, तत्स्वरूपं च यथा-

यत्राऽऽदरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥१॥

प्रीतिभक्त्योरियान् विशेषो दृष्टान्तद्वारेण-

अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञानं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं पात्रात्मिकायां सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन् ।
दयया चाऽतिदीनेषु महाश्रावक उच्यते ॥
(इति योगशास्त्रे - ३-११९)

एवं च **वाचकवर्या** अपि दानभेदयोरनुकम्पा-भक्तिविशेषितयोः स्वरूपमेवाऽऽचख्युः -

ऐन्द्रशर्मप्रदं दानमनुकम्पासमन्वितम् ।
भक्त्या सुपात्रदानं तु मोक्षदं देशितं जिनैः ॥१॥
अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्याद्भक्तिः पात्रे तु सङ्गता ।
अन्यथाधीस्तु दातृणामतिचारप्रसञ्जिका ॥२॥

भक्तिस्तु भवनिस्तारवाञ्छा स्वस्य सुपात्रतः ।
तया दत्तं सुपात्राय बहुकर्मक्षयक्षमम् ॥१॥

शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय सानुबन्धशुभार्जनात् ।
सानुबन्धं न बध्नाति पापं बद्धं च मुञ्चति ॥२॥

भवेत्पात्रविशेषे वा कारणे वा तथाविधे ।
अशुद्धस्याऽपि दानं हि द्वयोर्लाभाय नाऽन्यथा ॥३॥

अथवा यो गृही मुग्धो लुब्धकज्ञातभावितः ।
तस्य तत्स्वल्पबन्धाय बहुनिर्जरणाय च ॥४॥

इत्थमाशयवैचित्र्यादत्राऽल्पायुष्कहेतुता ।
युक्ता चाऽशुभदीर्घायुर्हेतुता सूत्रदर्शिता ॥५॥

यस्तूत्तरगुणाशुद्धं **प्रज्ञप्ति**विषयं वदेत् ।
तेनाऽत्र भजनासूत्रं दृष्टं सूत्रकृते कथम् ॥६॥

शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते ।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्मबन्धकृन्नाऽनुकम्पया ॥७॥

अतः पात्रं परीक्षेत दानशौण्डः स्वयं धिया ।
तत्त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः सम्यग्दृष्टिस्तथा परः ॥८॥

---

१. "एवं व्रतस्थितो भक्त्या" ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतेषां दानमेतत्स्थगुणानामनुमोदनात् ।
औचित्यानतिवृत्त्या च सर्वसम्पत्करं मतम् ॥९॥

शुभयोगेऽपि यो दोषो द्रव्यतः कोऽपि जायते ।
कूपज्ञातेन स पुनर्नाऽनिष्टो यतनावतः ॥१०॥

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं दानस्य भगवानपि ।
अत एव व्रतं गृह्णन् ददौ संवत्सरं वसु ॥११॥

इत्थं दानविधिज्ञाता धीरः पुण्यप्रभावकः ।
यथाशक्ति ददद्दानं परमानन्दभाग्भवेत् ॥१२॥

(द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकायां दानद्वात्रिंशिका)

एवं भक्तिदानादिस्वरूपं सर्वज्ञशासनातिरिक्ते नोपलभ्यते । पुनश्च देवविषयिण्या भक्तेः पञ्चविधत्वं **उपदेशतरङ्गिण्यां** प्रतिपादितम्-

पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च तद्रव्यपरिरक्षणम् ।
उत्सवास्तीर्थयात्रा च भक्तिः पञ्चविधा जिने ॥

भक्तिः श्रीवीतरागे पञ्चप्रकारा भवति । प्रथमा पुष्पादिपूजा, आदिशब्दान्मुक्ताफलहारकनकमयछत्राद्याभरणानि चटाप्यन्ते । आभरणपूजा हि शाश्वती । यदुक्तम्-

म्लायन्ति पुष्पनिचयाः प्रहरार्धकेन
वैगन्ध्यमेति दिवसेन कृतोऽङ्गरागः ।
जीर्यन्ति रम्यवसनान्यपि भूरिवर्षै-
र्नो जीर्यते युगशतैर्जिनरत्नपूजा ॥१॥

सप्तलक्षमनुष्यकलिते श्रीवस्तुपालसङ्घे श्रीअनुपमदेव्या श्रीगिरनारे नीरप्रक्षालितस्वमलैः द्वात्रिंशद्द्रम्मलक्षाभरणैः श्रीनेमीश्वरः पूजितः, तदनुकोटिपुष्पैः। यदुक्तम्-

द्वात्रिंशता द्रम्मलक्षैरेकदा रैवताचले ।
नेमीश्वरस्याऽनुपमा पूजां चक्रे प्रमोदतः ॥१॥

जिनभक्तिहृष्टचेतसा तेजःपालेन द्वात्रिंशल्लक्षटङ्कैस्तानि पुनर्नव्यानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारितानि । पुनरपि शत्रुञ्जये तैराभरणैः मन्त्रितेजःपालधर्मपत्न्याऽनुपमदेव्या श्रीऋषभदेवप्रतिमा पूजिता, तदा देवरपत्नीकृताभरणपूजां विलोक्य मन्त्रिवस्तुपाल-धर्मपत्न्या ललितादेव्याऽपि द्वात्रिंशल्लक्षटङ्ककाभरणैः पूजिता, शोभनादास्या लक्षटङ्कमूल्यस्वाभरणैः पूजिता । वस्तुपालमन्त्रिणा सर्वासामधिकमूल्यानि (आभरणानि) कारितानि । एवं देवगिरीयसङ्घपतिधाइदेवेन मुक्ताफलप्रवाल-चुन्नीसुवर्णपुष्पादिभिः श्रीऋषभदेवप्रतिमाया आङ्गी कृता, तदनु नवलक्षचम्पकार्चा। तथा 'जिनाज्ञा' सम्यग्मनसा पालनीया। तथा 'देवद्रव्यरक्षावृद्धिकरणं'' जिनपूजैव। यदुक्तम्-

वड्ढंतो जिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।
भक्खंतो जिणदव्वं अणंतसंसारिओ भणिओ ॥१॥

भक्खणे देवदव्वस्स परत्थीगमणेण या ।
सत्तमं नरकं जंति सत्तवाराओ गोयमा ॥२॥

चेइयदव्वविणासे इसिघाए पवयणस्स उड्डाहे ।
संजइचउत्थभंगे मूलग्गी बोहिलाभस्स ॥३॥

तथाऽष्टाह्निकास्नात्रोत्सवश्रीपर्युषणाकल्पचरित्रपुस्तकवाचनप्रभावनोत्सवाः क्रियन्ते, साऽपि जिनशासनोन्नतिहेतुत्वाज्जिनभक्तिरेव । यतः -

प्रकारेणाऽधिकां मन्ये भावनातः प्रभावनाम् ।
भावना स्वस्य लाभाय स्वान्ययोस्तु प्रभावना ॥१॥

एवं तीर्थयात्रोत्सवादिः । इत्यादिप्रकारैः पुण्यवता जिनभक्तिः कार्या ।'' इति **उपदेशतरङ्गिणीटीकायाम्** ।

आभरणपूजाया विशेषनिर्जराहेतुत्वं **व्यवहारभाष्ये** -

पासाईया पडिमा लक्खणजुत्ता समत्तलंकारा ।
जह जह पल्हायइ मणं तह तह णिज्जमो वियाणाहि ॥१॥

सूत्रेऽपि 'आभरणारुहणंति' । अतः सालङ्कारा मूर्त्तिः विशेषनिर्जराहेतुरिति तु निष्कर्षः ।

न्यायाचार्यैरपि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे 'पश्य पुरः स्फुरत्किरण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणिखण्डमण्डिताभरणभारिर्णी जिनपतिप्रतिमा' मित्युक्तमिति ।

'मणिमोत्तियदामएहिं' इत्याद्याप्तोक्तेश्च **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ** निर्वृतभगवच्छरीरस्य पूजाकालीनावस्थात्रिकभावनास्वरूपप्रतिपादेन स्तवानुलेपनाभरणादिविधानेन रात्रावपि **गौतमादे**र्भगवत्समीपावस्थानोपदेशः तच्चैत्यावस्थाननिषेधादिसूचितभावकल्पबिम्बकल्पभिन्नतया च कथं वीतरागावस्थे विचरति भावार्हति न विहितं भूषणरोपणादिकं तद्बिम्बे कार्यमित्यारेकाकणोऽपि न विधेयः ।

दिगम्बरनिरासप्रस्तावे आभरणविषयकचर्चाविस्तरस्तु **सम्मते**रवसेयः । देवगुरुविषयिणी भक्तिस्तु सम्यक्त्वं भूषयतीति सम्यक्त्वभूषणपञ्चके भक्तिनामाऽपि तृतीयं भूषणम् । **पूज्यपादैरपि** यथार्थभक्तिस्वरूपं प्रतिपादयद्भिरेवं **द्वात्रिंशिकायां** वर्णितम् -

"सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतानि मिथ्यादृक्श्रुतान्यपि सम्यक्त्वेन परिणमन्ती"ति ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥१॥

इति **गीतावचन**तात्पर्यविचारणया अर्हदुपासक एवाऽर्हन् भवितुमर्हति, नाऽन्यः, अत एव '**वाल्मीकी**प्रणीते **योगवासिष्ठे**'ऽपि **श्रीरामचन्द्रेण** सुध्याते यत्-

नाऽहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः ।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥१॥

पदार्थमात्ररसिकस्ततोऽनुपकृतोपकृत् ।
अमूढलक्षो भगवान् महानित्येष मे मतिः ॥१॥

अर्हमित्यक्षरं यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा ।
परं ब्रह्म ततः शब्दब्रह्मणः सोऽधिगच्छति ॥२॥

परःसहस्राः शरदां परे योगमुपासताम् ।
हन्ताऽर्हन्तमनासेव्य गन्तारो न परं पदम् ॥३॥

आत्माऽयमर्हतो ध्यानात् परमात्वत्वमश्नुते ।
रसविद्धं यथा ताम्रं स्वर्णत्वमधिगच्छति ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्योऽयं स्मरणीयोऽयं सेवनीयोऽयमादरात् ।
अस्यैव शासने भक्तिः कार्या चेच्चेतनाऽस्ति वः ॥५॥

सारमेतन्मया लब्धं श्रुताब्धेरवगाहनात् ।
भक्तिर्भागवती बीजं परमानन्दसम्पदाम् ॥६॥

श्रमणानामियं पूर्णा सूत्रोक्ताचारपालनात् ।
द्रव्यस्तवाद्गृहस्थानां देशतस्तद्विधिस्त्वयम् ॥७॥

न्यायार्जितधनो धीरः सदाचारः शुभाशयः ।
भवनं कारयेज्जैनं गृही गुर्व्वादिसम्मतः ॥८॥

तत्र शुद्धां महीमादौ गृह्णीयात् शास्त्रनीतितः ।
परोपतापरहितां भविष्यद्भद्रसन्ततिम् ॥९॥

अप्रीतिर्नैव कस्याऽपि कार्या धर्मोद्यतेन वै ।
इत्थं शुभानुबन्धः स्यादत्रोदाहरणं प्रभुः ॥१०॥

आसन्नोऽपि जनस्तत्र मान्यो दानादिना यतः ।
इत्थं शुभाशयस्फात्या बोधिवृद्धिं शरीरिणाम् ॥११॥

इष्टकादिदलं चारु दारु वा सारवन्नवम् ।
गवाद्यपीडया ग्राह्यं मूल्यौचित्येन यत्नतः ॥१२॥

भृतका अपि सन्तोष्याः स्वयं प्रकृतिसाधवः ।
धर्मो भावेन न व्याजाद्धर्ममित्रेषु तेषु तु ॥१३॥

जिनगेहं विधायैवं शुद्धमव्ययनीवि च ।
द्राक् तत्र कारयेद्बिम्बं साधिष्ठानं हि वृद्धिमत् ॥१४॥

विभवोचितमूल्येन कर्तुः पूजापुरःसरम् ।
देयं तदनघस्यैव यथा चित्तं न नश्यति ॥१५॥

लोकोत्तरमिदं ज्ञेय-मित्थं यद्बिम्बकारणम् ।
मोक्षदं लौकिकं चाऽन्यत् कुर्यादभ्युदयं फलम् ॥१६॥

इत्थं निष्पन्नबिम्बस्य प्रतिष्ठाऽऽसैस्त्रिधोदिता ।
दिनेभ्योऽर्वाक् देशीयस्तु व्यक्तिक्षेत्रमहाह्वया ॥१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यत्राऽऽरम्भवान् यस्तु तस्याऽत्राऽऽरम्भशङ्किनः ।
अबोधिरेव परमा विवेकौदार्यनाशतः ॥१८॥

तदुक्तम्-

अन्नत्थारंभओ धम्मेणारंभओ अणाभोगो ।
लोए पवयणखिंसा अबोहिबीयंति दोसाय ॥१॥

इत्यादि बहु वक्तव्यं, तत्तु तत एवाऽवसेयम् ।

पितामहगुर्वादिबहुजनक्षयहेतुकसङ्ग्रामपराङ्मुखायाऽर्जुनाय युद्धप्रवर्तनोद्देशेनोपदिष्टायां **गीतायाम**पि पूर्वप्रतिपादितसात्त्विक्यादिभक्तित्रयस्वरूपसंवादित्रिविधकर्मस्वरूपमिदम्-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥

त्रिविधकर्तृस्वरूपमपि तत्र-

मुक्तसङ्गोऽनहं वादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्धो निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥३॥

एवं च बुद्धिधृतिदानतपोज्ञानश्रद्धादीनामपि त्रिविधत्वं तत्र प्रतिपादितम्, तत्तत एवाऽवसेयम् । अत्र तु पर्युपासनारूपा भक्तिः । 'पूज्येष्वनुरागो **भक्ति'**रिति **मल्लिनाथः** । तया ।

उपपद्यन्ते स्मेति उपउपसर्गपूर्वात् पद्धातोः क्ते उपपन्नाः युक्तियुक्ताः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेषु **उपपन्नेषु** । "उपपन्नं ननु शिव" मिति रघुः । विधीयते इति 'उपसर्गादातः (।५।३।११०।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण विपूर्वात् धाधातोः अङिविधा । "कर्म क्रिया विधा" इति हैमः[1] । 'पाणिनीय' मते तु 'विध्-विदाने छिद्रकरणे छेदने च' तुदादिः पर० सक० सेट् । विधतीति विधा । विधधातोः कः अच्चेति विधः पुंस्त्रीलिङ्गः । "विधाने, गजभक्ष्यान्ने, प्रकारे, वेधे, वृद्धौ, वेतने, वेधने, कर्मणि च" स्त्री० । अत्र तु प्रकारार्थः । तस्या विधा इव विधा-प्रकारो येषां ते तद्विधाः, तेषां **तद्विधानाम्**-महतामित्यर्थः । प्रसदनमिति प्रपूर्वात् सद्धातोर्भावे घञि प्रसादः । "नैर्मल्ये, अनुग्रहे, काव्यगुणभेदे, स्वास्थ्ये, प्रसत्ते, देवनैवेद्ये, गुरुजनभुक्तावशिष्टे च" । अत्र त्वनुग्रहः । चाहयतीति चिह्नानि । 'दिन-नग्न-फेन-चिह्न-ब्रध्न-धेन-स्तेन-च्यौक्नादयः' ॥२६८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण चहेर्धातोरिदुपान्त्यो नान्तो निपातः । "चिह्नं, लक्षणं लक्ष्म लाञ्छनम्; अङ्कः कलङ्कोऽभिज्ञानम्" इति हैमः[2] । '**पाणि०**' मते 'चिह्न-लक्षणे' अदादिश्चुरादिश्च उभ० सक० सेट्धातोरचि, यद्वा चहधातोर्नप्रत्यये उपधाया विकल्पेन इत्वे चिह्नयन्तीति चाहयन्तीति वा चिह्नानि । "चिह्नं न० लाञ्छने लक्षणे च" । प्रसादस्य चिह्नानि-लिङ्गानि-पूजास्वीकारादीनि **प्रसादचिह्नानि** । फलन्तीति फलम् । "लाभोऽधिकं फलम्" इति हैमः[3] ।

फलं हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययोः ।
त्रिफलायां च कक्कोले शस्त्रासे व्युष्टिलाभयोः ॥

इति **अनेकार्थसङ्ग्रहः**[4] ।

'**पाणि०**' मते तु 'फल्-निष्पत्तौ' भ्वादिः पर० अ० सेट्, 'फल्-भेदने गतौ च' भ्वादिः पर० स० सेट् । अत्र तु निष्पत्त्यर्थः । फलतीति फलधातोरचि फलम् । "फलं वृक्षादीनां सस्ये, लाभे, कार्ये उद्देश्ये, प्रयोजने, जातीफले, त्रिफलायां, कक्कोले, बाणाग्रे, फाले, दाने, मुष्के च; कुटजवृक्षे" पुंलिङ्गः । स्वार्थादौ कनि फलकः (ढाल इति ख्याते) चर्ममयेऽस्त्रप्रतिघातनिवारके पदार्थे, अस्थिखण्डे, नागकेशरे, काष्ठादिपट्टके च पुंलिङ्गः" । पुरफलानि-पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि **पुरःफलानि** । अविलम्बितफलसूचक-

१. अभि० चि० ष० १४९७ ।
२. अभि० चि० द्वि० १०६ ।
३. अभि० चि० तृ० ८६९ ।
४. अनेकार्थसङ्ग्रहे तृ० ४८७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्- तया वत्सोत्सुकयाऽपि स्तिमितया (सत्या) सपर्या प्रत्यग्राहि इति ताभ्यां ननन्दे । हि भक्त्योपपन्नेषु तद्विधानां प्रसादचिह्नैः पुरःफलैः भूयते ॥

धेनुः यद्यपि सायंकाले निजवत्सालोकनार्थमत्यन्तं विह्वला आसीत् । तथाऽपि सा राज्ञा विहितां पूजां निश्चलभावेन स्वीचकार । ततस्यां प्रसन्नताचिह्नं विलोक्य सुदक्षिणादिलीपौ निर्भरमानन्दतुः । यतो भक्तजनान् प्रति महात्मनां प्रसादः अचिरेणैव भक्तानामिष्टसिद्धिं कथयति, इति सरलार्थः ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव द्रोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

गुरोरिति । भुज्येते आभ्यामिति भुजौ । 'भुजन्युब्जं पाणिरोगे (४।१।१२०॥) इति '**श्री सि०**' सूत्रेण घञ् निपात्यते पुंस्त्रीलिङ्गः । "भुजो बाहुः प्रवेष्टो दोर्बाहा" इति हैमः[1] । "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः[2] । '**पाणि०**' मते भुजधातोर्घञर्थे करणे कः नि० कत्वाभावः । "बाहौ, करे, त्रिकोण-चतुष्कोणादिक्षेत्रस्य रेखाविशेषे, **लीलावत्या**दिप्रसिद्धे-"तथायते, तद्भुजकोटि-घातः" । उच्छिद्यन्ते स्म इति उच्छिन्नाः । इयर्तीति रिपुः । 'कस्यर्निस्यामिपुक्' ॥७९८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण पुकि रिपुः । शत्रौ । "प्रतिपक्षः परो रिपुः शात्रवः प्रत्यवस्थाता प्रत्यनीकोऽभियात्यरी दस्युः सपत्नोऽसहनो विपक्षो द्वेषी द्विषन् वैर्यहितो जिघांसुः दुर्हृत् परेः पन्थकपन्थिनौ द्विट् प्रत्यर्थ्यमित्रावभियात्यराती" इति हैमः[3] । '**पाणिनीय**'मते तु रप्धातोः कुप्रत्यये पृषोदरादित्वात् "रिपुः शत्रौ चोरनामगन्धद्रव्ये, ज्योतिषोक्ते लग्नापेक्षया षष्ठस्थाने, कामक्रोधादिषु च" । अत्र तु शत्र्वर्थः । भुजाभ्याः उच्छिन्नाः रिपवो येन स **भुजोच्छिन्नरिपुः** बाहुविध्वंसितारिः । **दिलीपः** ।

दारयन्ति दीर्यन्ते वा एभिरिति वा दाराः । 'पुंलिङ्गो दारप्राणा सुवल्वजा

---

१. अभि० चि० तृ० ५८९ ।
२. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १२३३ ।
३. अभि० चि० तृ० ७२८-२९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति **लिङ्गानुशासन**वचनात्; बहुवचनान्तश्च'। 'एकवचनान्तोऽपि दृश्यते यल्लक्ष्यं (यथालक्ष्यं ?) "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे, नाऽन्यं कुर्वीत" इति। 'न्यायावाया-(ध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदारजारम्) (५।३।१३४।।) इति '**श्री सि०**' सूत्रेण घटादिदृधातोः णिचि घञ्निपातने दाराः। "अथ सधर्मिणी पत्नी सहचरी पाणिगृहीती गृहिणी गृहा दाराः क्षेत्रं वधूर्भार्या जनी जाया परिग्रहः द्वितीयोढा कलत्रं च" इति हैमः[1]। "भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः" इत्यमरः[2]। '**पाणिनीय**' मते तु दारयन्ति भ्रातृस्नेहम् इति दृधातोः णिचि अचि च "दाराः पुं० बहुवचनं पत्न्याम्"। सा हि पत्युर्भ्रातृस्नेहं भिनत्तीति लोकप्रसिद्धम्। दारैः सह वर्तमानः सदारः, तस्य **सदारस्य**-सभार्यस्य।

'गृणाति धर्म'मिति गुरुः। 'कृ-गृ ऋत उर् च' ॥७३४॥ 'उणादिश्री० सि०' सूत्रेण 'गृश्-शब्दे' इति धातोः किदुप्रत्यये ऋकारस्य चाऽरि गुरुः। गुरुः आचार्यः लघुप्रतिपक्षः पूज्यश्च जनः। "गुरुर्धर्मोपदेशकः" इति हैमः[3]। 'निषेकादिकरो गुरुः' इत्यन्ये। 'गिरती'ति गुरुः इति तु महदर्थे। 'गृणाति उपदिशती'ति गुरुः। "बृहस्पतिः सुराचार्यो जीवश्चित्रशिखण्डिजः वाचस्पति-द्वादशार्चिर्धिषणः फल्गुनीभवः गीर्बृहत्योः पतिरुतथ्यानुजाङ्गिरसौ गुरुः" इति हैमः[4]। '**पाणिनीय**'मते तु गिरत्यज्ञानमिति गृणात्युपदिशति वा धर्ममिति गृधातोः कुप्रत्यये उचि च" गुरुः

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चाऽन्येन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१॥

इति **मनूक्ते** निषेकादिकर्तरि, पित्रादौ।

"स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा, वेदमस्मै प्रयच्छति"

इत्युक्ते आचार्ये, शास्त्रोपदेष्टरि, सम्प्रदायप्रवर्तके, उपाध्याये, तान्त्रिकमन्त्रोपदेष्टरि, बृहस्पतौ, तदधिदैवे, पुष्ये, द्विमात्रे, दीर्घे, स्वरवर्णे, बिन्दुविसर्गयुक्ते एकमात्रे, संयुक्तवर्णात्पूर्वस्थिते एकमात्रेऽपि वर्णे, द्रोणाचार्ये कपिकच्छायाञ्च,

---

१. अभि० चि० तृ० ५१२-१३।
२. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १०८५।
३. अभि० चि० प्र० ७७।
४. अभि० चि० द्वि० ११८-१९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलवति, महति, पूज्ये ।

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः । इति **पुराणम्** ।

दुर्जरे, गुरुत्ववति च त्रिलिङ्गे । अत्र तु पूज्यादिर्यथायथम् ।

जैनदर्शने तु गुरवोऽनेके प्रतिपादितास्तथाऽपि उपदेशकमुनिरूपगुरुस्तु महाव्रतधरत्वादिगुणगणोपेत एव । यदाह–

महाव्रतधरा धीरा भैक्षमार्गोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥१॥

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मपरायणः ।
सत्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥२॥

'स्वयं परिहारः' इति **श्रीहरिभद्रसूरि**वचनात् यः सर्वारम्भादित्यागवान् स एवोपदेशदानाधिकारज्ञ नेतर इति ज्ञेयम् ।

योगपूर्वसेवाधिकारे तु एवंविधोऽपि गुरुवर्गः प्रतिपादितस्तथा चाऽऽह–

पूर्वसेवा तु योगस्य गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ॥२॥

पूजनं चाऽस्य नमनं त्रिसन्ध्यं पर्युपासनम् ।
अवर्णाश्रवणं नाम श्लाघोत्थानासनार्पणे ॥३॥

सर्वदा तदनिष्टेष्टत्यागोपादाननिष्ठता ।
स्वपुमर्था(र्थ)मनाबाध्य साराणां च निवेदनम् ॥४॥

(द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका)

'अत्र स्वपुमर्थमनाबाध्येत्यनेन यदि तदनिष्टेभ्यो निवृत्तौ इष्टेषु च प्रवृत्तौ धर्मादयः पुरुषार्था बाधन्ते तदा न तदनुवृत्तिपरेण भाव्यम्' इति तट्टीकायाम् ।

तद्वित्तयोजनं तीर्थे तन्मृत्यनुमतेर्भयात् ।
तदासनाद्यभोगश्च तद्बिम्बस्थापनार्चने ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अखानाम्ना जैनेतरभक्तेनाऽपि **गुर्जरभाषा**यामुक्तम्-

"गुरु गुरु नाम धरावे सहु, गुरुने घेर बेटा ने वहु ।
गुरुने घेर ढांढां ने ढोर, **अखो** कहे आपे वलावा ने आपे चोर ॥" इति ।

'गृणाति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरुः - धर्मोपदेशादिदातरि' **आवश्यकमलयगिरीयवृत्तौ** । सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्ते सम्यग्धर्मशास्त्रार्थदेशके, **धर्मसङ्ग्रह-द्वितीयाधिकारे, अष्टके, पञ्चाशके** च । गौरवार्हे, **उत्तराध्ययने** । धर्माचार्ये, **पञ्चा० विवरणे, प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ, उत्तराध्ययने, निशीथचूर्णौ** च । सम्यग्गुरुचरणपर्युपासनाऽविकलतया यथावस्थिततत्त्ववेदितरि, यतः-

गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।
तस्माद्गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम् ॥

(**प्रशमरतिप्रकरणम्**-६९)

आवश्यकवृत्तौ, अनुयोगद्वारवृत्तौ, धर्मरत्नवृत्तौ च ।

'गृणाति प्रवचनार्थतत्त्व'मिति गुरुः - प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्ये, **नन्दीवृत्तौ**, कल्याणमित्रे, **पञ्चसूत्र**चतुर्थसूत्रे च ।

गुरुचित्तप्रसत्त्यधीनत्वात्सकलशास्त्रार्थस्य गुरुचित्तप्रसादने यतितव्यं गुरुकुलवासश्च विधेयः । यदुक्तम्-

गुरुचित्तायत्ताइं वक्खाणंगाइ जेण सव्वाइं ।
तो जेण सुप्पसन्नं होइ तयं तं तहा कज्जं ॥१॥

तदुपायाश्चेमे-

जो जेण पगारेण तुस्सइ करणविणयाणुवत्तीहिं ।
आराहणाए मग्गो सो च्चिय अव्वाहओ तस्स ॥१॥

आयारेंगियकुसलं जइ सेयं वायसं वदे पुज्जा ।
तह विय सिं न वि कूडे विरहंमि य कारणं पुच्छे ॥२॥

निवपुच्छिएण गुरुणा गंगा कओमुही वहइ ।
संपाइयवं सीसो जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥४॥

सव्वगुणमूलभूओ भणिओ आयारपढमसुत्ते जं ।
गुरुकुलवासोऽवस्सं वसिज्ज तो तत्थ चरणत्थं ॥५॥ इत्यादि ।

तस्य **गुरोः**-वसिष्ठस्य । **जैनमते** तु ऋषिमुनिरूपस्य त्यागिनः सदारगुरोरभावादेतद्वर्णनमयुक्तमेवेत्यवसेयम् ।

पत्स्यते अपाद पेदेवा पादः । 'वदरुजविशस्पृशो घञ्' (५।३।१६॥) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण पदधातोर्घञि पादः । "चरणः क्रमणः पादः पदोंऽह्रिश्चलनः क्रमः इति हैमः[1] । '**पा०**' मते तु पद्यते गम्यतेऽनेनेति करणे घञि पादः । "इज्यस्य चरणे, चतुर्थांशे, वृक्षादेर्मूले, पूज्ये, किरणे च" । अत्र तु चरणार्थः । **पादौ**-चरणौ । न(नि)पीड्य संवाह्य । अत्र स्त्रीपादसंवाहनमयुक्तं पुरुषस्येत्यभिसन्धाया '**ऽभिवन्द्ये**'ति [विवृतवान्] **मल्लिनाथ** इत्यनुमीयते । सन्ध्यायां विहितः सान्ध्यः, तं **सान्ध्यं** सायंकालिकम् ।

विधीयतेऽनेनेति विधिः । "कल्पे विधिक्रमौ" इति हैमः[2] । '**पाणि०**' मते तु विधिः विपूर्वात् धाधातोः किप्रत्यये इनप्रत्यये वा विधिः "जगत्स्रष्टरि, ब्रह्मणि, भाग्ये, क्रमे, 'चिकीर्षा कृतिसान्ध्य(ध्य)त्वहेतुधीविषयो विधिः' इत्युक्ते प्रवर्तनारूपे, नियोगे, तज्जनके वाक्ये, विष्णौ, कर्मणि, गजभक्ष्यान्ने, वैद्ये, अप्राप्तप्रापकरूपे, वाक्यभेदे,

'संज्ञा च परिभाषा च, विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥'

इति व्याकरणोक्ते सूत्रभेदे ।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्य[त्र] च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥'

अत्र तु क्रमार्थः । तं **विधिम्**-अनुष्ठानम् । **समाप्य** पूर्णीकृत्य ।

---

१. अभि० चि० तृ० ६१६ ।
२. अभि० चि० तृ० ८३९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुह्धातोर्भावे घञि दोहनं [वा] दोहः । अवसीयतेऽनेनेति अवसानम् । "आघाटस्तु घटोऽवधिः अन्तोऽवसानं सीमा च मर्यादाऽपि च सीमनि" इति हैमः[1] । 'पाणि०' मते तु अवसायः अवसानं नपुं०, अवपूर्वात् साधातोर्भावे ल्युट्- "विरामे, समाप्तौ, सीमायां, मृत्यौ च" । अत्र तु समाप्त्यर्थः विरामार्थो वा । दोहस्याऽवसानं दोहावसानम्, तस्मिन् **दोहावसाने** । निषीदति स्मेति निषण्णा, तां **निषण्णाम्**-आसीनाम् । दोहनशीलां **दोग्ध्रीम्** । अत्र दुह्धातोस्तृन्प्रत्यये च स्त्रियां ङीपि दोग्ध्री । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात् कामधेनुत्वं गम्यते ।

पुनातीति पु(पू)सन्यमिभ्यः पुनसनुतान्ताश्च ॥९४७॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण अर्प्रत्यये पुनादेशे च द्वित्वे च पुनः पुनः । "भूयोऽभीक्ष्णं पुनः पुनः असकृन्मुहुः" इति हैमः[2] । "**पाणि०**" मते तु पणधातोररुप्रत्यये पृषोदरादित्वात् **पुनः** । अव्ययम् । "अवधारणे, भेदे, अधिकारे, पक्षान्तरे, द्वितीयवारे च" । अत्र तु द्वितीयवारार्थः । इण्धातोर्वति प्रत्यये **एवा**ऽव्ययम्, "सादृश्ये, अनुयोगे, अवधारणे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे ईषदर्थे च । **विशेष्यसङ्गतोऽन्य-योगव्यवच्छेदे** यथा- 'पार्थ एव धनुर्धर' इत्यादौ, पार्थान्यपदार्थे प्रशस्तधनुर्धरत्वं व्यवच्छिद्यते । **विशेषणसङ्गतोऽयोगव्यवच्छेदे** यथा- 'शङ्खः पाण्डुर एवे' त्यादौ, शङ्खे पाण्डुरत्वायोगो व्यवच्छिद्यते । **क्रियासङ्गतोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदे** यथा- 'नीलं सरोजं भवत्येवे'त्यादौ, सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते । गन्तरि त्रिलि० ।" अत्र तु अवधारणे । **भेजे**-सिषेवे ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - भुजोच्छिन्नरिपुणा दिलीपेन सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं च समाप्य दोहावसाने निषण्णा दोग्ध्री पुनरेव भेजे ॥

अरिक्षयकर्ता दिलीपः आश्रमं समागत्य दम्पत्योः वसिष्ठारुन्धत्योः पादौ भक्त्या संवाह्य, **मल्लिनाथ**मते तु पूर्वं वसिष्ठमरुन्धतीं च भक्त्या ववन्दे । ततो निजं सायंकालिकमनुष्ठानं समाप्य दोहो(हा)वसाने सुखासीनां तां नन्दिनीमेव पुनः सेवितवान्, इति सरलार्थः ॥२३॥

---

१. अभि० चि० च० ९६२ ।

२. अभि० चि० ष० १५३१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

तामिति । गोपायतीति 'गुपौ-रक्षणे' धातोः कर्तरि तृच्प्रत्यये **गोपा(प्ता)**-रक्षको दिलीपः । गृहमस्त्यस्यां, गृहशब्दात् अस्त्यर्थे इनि ततो ङ्यां च गृहिणी । "अथ सधर्मिणी पत्नी सहचरी पाणिगृहीती गृहिणी गृहाः दाराः क्षेत्रं वधूर्भार्या जनी जाया परिग्रहः द्वितीयोढा कलत्रं च" इति हैमः[1] । गेहिनीत्यपि । गृहिणी भार्यायां, गेहकर्मकुशलायाम् । "गृहिणी सचिवः सखीमिथः" इति **रघुः** । सह अयते-गच्छतीति सहायः । "सहायोऽभिचरोऽनोश्च जीवि-गामि-चर-प्लवाः सेवकः" इति हैमः[2] । "सहायः सहचरेऽनुकूले च असावनुक्तोऽपि सहाय एव" इति **कुमारः** । गृहिणी सहायो यस्य सः **गृहिणीसहायः** । अन्तोऽस्त्यस्य इत्यन्तशब्दादिकप्रत्यये अन्तिकम् । "पार्श्वं समीपं सविधं ससीमाभ्याशं सवेशान्तिकसन्निकर्षाः सदेशमभ्यग्रसनीडसन्निधानान्युपान्तं निकटोपकण्ठे सन्निकृष्ट-समर्यादाभ्यर्णान्यासन्नसन्निधी" इति हैमः[3] । यद्वा अन्त्यते सम्बध्यते सामीप्येनेति अन्तधातोः घञ्प्रत्यये अन्तः सोऽस्याऽस्तीति मत्वर्थीय ठनि अन्तिकः । 'सामीप्यवति, स्वार्थे ठनि, सामीप्ये पुं० चूल्ल्यां नपुं०, औषधिभेदे स्त्री० । न्यस्यन्ते स्मेति निउपसर्गात् अस्धातोः कर्मणि क्ते न्यस्ताः त्रिलि० । "क्षिप्ते, त्यक्ते, विसृष्टे, निहिते च" । बलत्यनेनेति 'पदि-पठि-पचि-स्थलि-हलि-कलि बलि-वलि-वल्लि-पल्लि-कटि-चटि-वटि-बधि-गाध्यचि-वन्दि-नन्द्यवि-वशि-वाशि-काशि-छर्दि-तन्त्रि-मन्त्रि-खण्डि-मण्डि-चण्डि-यत्यञ्जि-मस्यसि- वनि-ध्वनि-सनि-गमि-तमि-ग्रन्थि-श्रन्थि-जनि-मण्यादिभ्यः' ॥६०७॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण बल-प्राणनधान्यावरोधयोः' इति धातोः इप्रत्यये" बलिः पुंस्त्रीलिङ्गः" देवतोपहारः दानवश्च । "उपहारबली समौ" इति हैमः[4] । "भूतयज्ञो बलिः" इति वा हैमः[5] । यद्वा बल्धातोः इनप्रत्यये बलिः पुं० । पूजोपहारे ।

"ददतुस्तौ बलिं चैव, निजगात्रासृगुक्षितं" इति **चण्डी** । राजग्राह्ये भागे, उपप्लवे, चामरदण्डे, जैनेतरगृहस्थकर्तव्यपञ्चयज्ञमध्ये भूतयज्ञे – 'बलिकर्म

---

१. अभि० चि० तृ० ५१२-१३ ।   २. अभि० चि० तृ० ४९६ ।
३. अभि० चि० ष० १४५०-५१ ।   ४. अभि० चि० तृ० ४४७ ।
५. अभि० चि० तृ० ४२२ ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

ततः कुर्यात्' इति स्मृतिः । दैत्यभेदे, विरोचनपुत्रे च" ।

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबली' ॥ इति रक्षाबन्धनमन्त्रः । षष्ठः प्रतिवासुदेवो वा बलिः । ते च नव । यदाह हैमः[१] -

अश्वग्रीवस्तारकश्च मेरको मधुरेव च ।
निशुम्भ-बलि-प्रह्लाद-लङ्केश-मगधेश्वराः ॥

लङ्केशो रावणः, मगधेश्वरो जरासन्धः, इति **टीका** ।

विष्णुवध्यत्रयोविंशतौ द्वाविंशे, यदाह हैमः[२]- "मधु-धेनुकचाणूर-पूतना-यमलार्जुनाः कालनेमिहयग्रीवशकटारिष्टकैटभाः कंसकेशिमुराः साल्वमैन्द-द्विविदराहवः हिरण्यकशिपुर्बाणः कालियो नरको बलिः शिशुपालश्चाऽस्य वध्याः" इति । 'एते त्रयोविंशतिरस्य विष्णोर्वध्या' इति **तट्टीका**" । "जरया श्लथचर्मणि, स्त्रीलि० वा ङीप् ।

'गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः' । इति **स्मृतिः** ।

'उदारावयवे- 'बलित्रयं चारु बभार बाला' इति **कुमारः** ।

गुह्यस्थे अङ्कुराकारे मांसपिण्डे, गृहदारुभेदे च स्त्री० । स्वार्थे कन्, तत्राऽर्थे इति बलायां च । दीप्यते इति दीपः, प्र स्वार्थे, मेरुः सुमेरुवत्, प्रदीपः ।

'दीपः प्रदीपः कज्जलध्वजः स्नेहप्रियो गृहमणिर्दशाकर्षो दशेन्धनः" इति हैमः[३] । यद्वा प्रउपसर्गपूर्वात् दीप्धातोः कप्रत्यये प्रदीपः, पुंलि० प्रदीपे । बलयश्च प्रदीपाश्च बलिप्रदीपाः । अन्तिके न्यस्ताः बलिप्रदीपाः यस्याः सा अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा, ताम् **अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम्** - समीपस्थापित-पूजोपकरणदीपाम् । तां पूर्वोक्तां सुखासीनां नन्दिनीम् ।

अन्वास्य- अनुउपसर्गपूर्वात् 'आस् उपवेशने' धातोर्ल्यपि **अन्वास्य** अनूपविश्य । क्रमणं-भावे घञि क्रमः । "पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः परिपाट्य-नुपूर्व्यावृत्" इति हैमः[४] । क्रामन्त्यनेनेति क्रमः-पादः "चरणः क्रमणः पादः

---

१. अभि० चि० तृ० ६९९ ।

२. अभि० चि० द्वि० २१९-२०-२१ ।

३. अभि० चि० तृ० ६८६-८७ । ४. अभि० चि० ष० १५०३-४ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदोऽङ्घ्रिश्चलनः क्रमः " इति हैमः । यद्वा 'क्रम्-गतौ वा भ्वादिः पक्षे दिवादिः पर० सक० सेट्, क्रामति क्राम्यति इति क्रम्धातोर्घञि क्रमः पुंलि० । "नियतपूर्वापरभावरूपे, विधाने, अनुक्रमे, शक्तौ, आक्रमणे, पादे च" । अत्र त्वनुक्रमार्थः । तेन **क्रमेण**-परिपाट्या । स्वपिति स्मेति स्वप्धातोः कर्तरि क्ते सुप्ता, तां **सुप्तां**-निद्रिताम् । **अनु**-पश्चात् **संविवेश**-सुष्वाप ।

प्रकर्षेणाऽतत्यत्रेति 'प्रादतेरर्' ॥९४५॥ इति '[उणादि०]श्रीसि०'सूत्रेण प्रपूर्वात् 'अत्-सातत्यगमने' इति धातोः अर्प्रत्यये **प्रातः**-प्रभातम् । "प्रगे प्रातरहर्मुखे" इति हैमः[2] । **'पाणि०'** मते अरुप्रत्यये प्रातर् अव्ययं प्रभाते, 'प्रातःकालो मुहूर्तान् त्रीन्' इति **स्मृत्युक्ते** सूर्योदयावधि त्रिमुहूर्तकाले च" । प्रातः-प्रातःकाले । उत्तिष्ठिति स्मेति-उत्पूर्वात् स्थाधातोः कर्तरि क्ते उत्थिता । पूर्वं सुप्ता पश्चादुत्थिता सुप्तोत्थिता, तां **सुप्तोत्थिताम्**-शयनोत्थितां जागरितामित्यर्थः । **अनु** पश्चात्, **उदतिष्ठत्**-उत्थितवान् । अत्राऽनुशब्देन धेनु-राजव्यापारयोः पौर्वापर्य-मुच्यते । क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः (२।२।३७॥) इति **'श्री सि०'** सूत्रेण अनुयोगे 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' [२।३।८॥] इति **'पा०'** सूत्रेण चाऽनुयोगे 'अनुर्लक्षणे' [१।४।८४॥] इति **'पा०'** सूत्रेण अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । ततो द्वितीया ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - गोप्त्रा गृहिणीसहायेनाऽन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां तामन्वास्य क्रमेण सुप्तामनुसंविविशे प्रातः सुप्तोत्थितामनूदस्थीयत ॥

तस्या नन्दिन्या निकटे बलिप्रदीपादिपूजासामग्रीं संस्थाप्य तस्या उपवेशनानन्तरं सुदक्षिणादिलीपौ उपविविशतुः । क्रमेण निद्रायुक्तायां तस्यां तावपि निद्रां प्राप्तवन्तौ, प्रातःकाले च सुप्तोत्थितायां तस्यां तावपि उदतिष्ठताम्, इति सरलार्थः ॥२४॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

इत्थमिति । अनेन प्रकारेणेति 'कथमित्थम्' (७।२।१०३॥) इति

---

१. अभि० चि० तृ० ६१६ ।

२. अभि० चि० ष० १५३३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'**श्रीसि०**' सूत्रेण इदम्शब्दात् एतच्छब्दाच्च थमि इदादेशे च **इत्थम्** इति निपात्यते। '**पाणि०**' मते तु इदम्शब्दात् थमुप्रत्यये इत्थम् अव्ययम्, "इदम्प्रकारे, अनेन प्रकारेणेत्यर्थे च"। प्रजायते इति प्रपूर्वात् जन्धातोः '**क्वचित्**' (५।१।१७१॥) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण डप्रत्यये प्रजा। "सन्ततौ, जने च। तोकापत्यप्रसूतयः तुक् प्रजोभयोः" इति। "लोको जनः प्रजा" इति च हैमः[1]। "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इत्यमरश्च[2]। प्रजा एवाऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्, प्रजायै इति वा **प्रजार्थम्**। मह्यते पूज्यते इति 'मह्यविम्यां हित्' ॥५४७॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'मह्-पूजायां' धातोः टिदिषप्रत्यये महिषः सैरिभः राजा च। ततो ङ्यां महिषी राजपत्नी सैरिभी च। "कृताभिषेका महिषी" इति हैमः[3]। 'नृपस्त्रीत्युत्तरतः सम्बध्यते महादेवीत्वे कृताभिषेका यथा वासवदत्तेति' **तद्वृत्तिः**। "कृताभिषेका महिषी" इत्यमरः[4]। यद्वा मह्धातोः टिषचिप्रत्यये ततो ङि(ङी)पि महिषी। 'राज्ञः कृताभिषेकायां महिषजातिस्त्रियाम् औषधिभेदे च'। अत्र तु पट्टराज्ञी महिषी, तया **महिष्या**।

सम्पूर्वात् 'अम्-गतौ'धातोः, सङ्गतममतीति समम्। "साकं सत्रा समं सार्धममा सह" इति हैमः[5]। 'यथाऽस्मदुपज्ञे **द्व्याश्रयमहाकाव्ये** "पुलिनानि सह क्षोमैः सरांसि नभसा समम्"। 'ज्योत्स्न्य(न्या)माहन्यामिषन्मेघाः साकं कैलाशमुनिभिः' इति **तद्वृत्तौ**। यद्वा सम्धातोः समुप्रत्यये समम् अव्ययं, "साहित्ये, एकदेत्यर्थे च"। 'सममेव समाक्रान्तं द्वयम्' इति **रघुः**। अत्र **समं** सह।

व्रियते उपवासाद्यत्रेति 'पृषि-रञ्जि-सिकि-का-ला-वृभ्यः कित्' ॥२०८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'वृगट्-वरणे' इति धातोः किदतप्रत्यये व्रतम् - शास्त्रविहितो नियमः। "नियमः पुण्यकं व्रतम्" इति हैमः[6]। **जैनदर्शने** देशसर्वादिभेदेन व्रतानामनेकविधत्वम्। देशतः श्रावकाणां द्वादशव्रतानि, सर्वतो

---

१. अभि० चि० तृ० ५०१।
२. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २३९८।
३. अभि० चि० तृ० ५२०।
४. अम० द्वि० मनुष्यवर्गे - १०८३।
५. अभि० चि० ष० १५२७।
६. अभि० चि० तृ० ८४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनीनां पञ्च महाव्रतानि । अन्ये चाऽभिग्रहविशेषा अपि व्रतानि गीयन्ते । "व्रतं लक्षणभेदे पुण्यसाधने उपवासादि नियमभेदे च" । अत्र तु **जैनेतरमतेन** गोसेवारूपो नियमो व्रतम्, तत् **व्रतम्** ।

धारयतीति चुरादि'धृ'धातोः णिचि शतृप्रत्यये [च] धारयन्, तस्य **धारयतः**-अनुतिष्ठतः पालयत इत्यर्थः । महितुं योग्येति 'मह्-पूजायां' धातोरनीयप्रत्यये महनीया-पूज्या । **'पाणि०'** मते च अनायरप्रत्यये । कीर्त्यते इति 'साति-हेति-यूति-जूति-ज्ञप्ति-कीर्त्तिः' (५।३।९४।।) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण 'कृतत्-संशब्दने' धातोः भावाकर्त्रोः क्तिप्रत्ययान्तनिपातने कीर्त्तिः-यशः । "श्लोकः कीर्त्तिर्यशोऽभिख्या समाज्ञा" इति हैमः[1] । **'पाणि०'** मते चुरादि 'कृत्' धातोः कर्मणि क्तिनि कीर्त्यते इति कीर्त्तिः यशसि ।

"एक दिग्गामिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्गामुकं यशः" ।

यद्वा

"दानपुण्यफला कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः" इति ।

यशःकीर्त्योरर्थभेदोऽप्यन्यत्र । अत्र तु यशसि । महनीया कीर्त्तिर्यस्य सः महनीयकीर्त्तिः, तस्य **महनीयकीर्त्तेः** - प्रशस्तयशसः ।

दीयते स्मेति **'सि०'**मते दीङ्च्-क्षये, **'पा०'** मते तु 'दी-क्षये' इति धातोः कर्तरि क्ते तस्य च नत्वे दीनः त्रिलिङ्गः । "दुःखिते, भीते च, तगरपुष्पे नपुं०, मूषिकायां स्त्री०" । उद्हरणं उद्धरणं वेति उत्-उपसर्गपूर्वात् हृ-धृधातो **'सि०'**मते भावेऽनटि, **'पा०'**मते च ल्युटि उद्धरणम् । दीनानामुद्धरणम् दीनोद्धरणम् । उच्यते स्मेति उचितः-योग्यः । "न्याय्यं तूचितं युक्तसांप्रते लभ्यं प्राप्तं भजमानाभिनीतौपयिकानि च" इति हैमः[2] । 'वच्-परिभाषणे' धातोः 'उवच्-समवाये' धातोर्वा कर्मणि क्ते, **'पाणि०'** मते उच्धातोः क्ते वच्धातोः कितच्प्रत्यये वा उचितः त्रिलिङ्गः ।" न्यस्ते, परिचिते, युक्ते" । अत्र तु परिचितार्थः । दीनोद्धरणे उचितः-परिचितः दीनोद्धरणोचितः, तस्य **दीनोद्धरणोचितस्य** दीनजनरक्षणनिरतस्य ।

---

१. अभि० चि० द्वि० २७३ ।

२. अभि० चि० तृ० ७४३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तनोति तनुते वेति तन्धातोः अदि डिति च तद्शब्दः त्रिलि० । "पूर्वोक्ते, बुद्धिस्थे, परामर्शयोग्ये, विप्रकृष्टविषये च; ब्रह्मणि नपुं०" । "ओँ तत्सत् इति निर्देशो ब्राह्मणः" इति **गीता** । तस्य-षष्ठ्येकवचने **तस्य**-दिलीपस्य । 'तृ-प्लवनतरणयोः धातोर्डिन्प्रत्यये तरन्तीति त्रयो बहुवचनान्तस्त्रिलि० त्रित्व-सङ्ख्याविशिष्टे । स्त्रियां तिस्रादेशः, तिस्र इत्यादि । गुण्यते इति गुणः-उपसर्जनम् । "गुणोपसर्जनोपाग्राण्यप्रधाने" इति हैमः[1] । गुण्यते अभ्यस्यते इति गुणः- रज्जुः मौर्वी च । "शुल्बं(म्बं) वराटको रज्जुः शुल्वं तन्त्री वही गुणः" इति [हैमः[2]] । "मौर्वी जीवो(वा) गुणो गव्या शिञ्ञा बाणासनं द्रुणा [शिञ्जिनी ज्या च]" इति च हैमः[3] । '**पाणि०**' मते तु गुण्धातोरचि घञि वा गुणः । "धनुषो मौर्व्यां, धनुराकर्षणदामनि, रज्जुमात्रे ।

"सगुणोऽपि पूर्णकुम्भो यथा कूपे निमज्जती"**त्युद्भटः** । शौर्यादिधर्मे, राज्ञां सन्धिविग्रहादिषु, षट्सु साधनेषु ।

'षाड्गुण्यमुपयुञ्जते' इति **माघः** ।

'ज्ञानविनयादिषु गुणागुणानुबन्धित्वात्' इति **रघुः** ।

साङ्ख्यमते 'पुरुषोपभोगोपकरणभूतत्वात् तद्बन्धनोपयोगित्वाच्च सत्त्वरजस्तमआदिषु पदार्थेषु' । 'प्रकृतेर्गुणसंमूढा सज्यन्ते गुणकर्मसु' इति **गीता** ।

अप्रधाने । **न्यायमते** रूपादिचतुर्विंशतिभेदभिन्ने पदार्थे । **व्याकरणोक्ते**

'सत्त्वे निविशतेऽवैति, पृथग्जातिषु दृश्यते' ।

'आधेयश्चाऽक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिः गुणः ।'

इत्युक्ते द्रव्यमात्राश्रिते । द्रव्यभिन्ने उत्पाद्यानुत्पाद्यतासमानाधिकरणे, सिद्धधर्मे, वस्तुधर्मे । **व्याकरणपरिभाषिते** 'अदेङ् गुणः' इत्युक्ते अकारे एकारे ओकारे च । 'गुणोऽरेदोत्' इत्युक्ते अरि एकारे ओकारे च । अलङ्कारोक्तेषु माधुर्यादिषु । आवृत्तौ, तन्तौ, उत्कर्षे, दूर्वायां च । **जैनमते** सहभाविनि, पर्याये

---

१. अभि० चि० ष० १४४१ ।

२. अभि० चि० तृ० ९२८ ।

३. अभि० चि० तृ० ७७६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च । अत्र त्वावृत्त्यर्थः । त्रयो गुण आवृत्तयो येषां तानि **त्रिगुणानि**-त्रिरावृत्तानि ।

सप्धातोः कनिनि तुटि च, अथवा सप्धातोः तनिन्प्रत्यये वा सप्तन् पु० । त्रि० । "सप्तत्वविशिष्टे सङ्ख्याविशेषे, तत्सङ्ख्यायां च" । **सप्त** । दीव्यति रविरत्रेति यद्वा द्यति तम इति दोंच्धातोर्नक्प्रत्यये दिनं "सूर्यकिरणो-पलक्षिते षष्टिदण्डात्मके तद्विशिष्टे अवखण्डने वा चतुर्यामात्मके काले" तच्च मनुष्याणां षष्टिदण्डात्मकम् । पितृणां गौणचन्द्रमासात्मकम्, तेषां हि चन्द्रलोको-परिस्थितेः कृष्णाष्टमीत एव सूर्यस्य तल्लोके किरणस्पर्शसंभवः, शुक्लाष्टम्यां पुन**र्भूवृत्तेनाऽच्छादनाच्च** न तत्सम्पर्कः । देवानामसुराणां च सौरवर्षकालात्मकम् । ब्रह्मणो दिव्यमानेन युगसहस्रकालात्मकमिति विवेकः" । एतत्सर्वं **जैनेतरमते** । अत्र तु षष्टिदण्डात्मकं दिनम् । **त्रिगुणानि दिनानि**-एकविंशतिर्वासराणीत्यर्थः। **व्यतीयुः**-व्यतिक्रान्तानि ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् - इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतो महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणैः सप्तभिर्दिनैः व्यतीये ।

इत्थं सन्तानाय पन्त्या समं व्रतं धारयतः पूजितकीर्तिः दीनरक्षणोचितस्य तस्य नृपस्य एकविंशतिर्दिनानि गतानि, इति सरलार्थः ॥२५॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

अन्येद्युरिति । अन्यस्मिन् दिने इति 'पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस्' (७।२।९७॥) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेणाऽन्यशब्दात् अन्यस्मिन्नह्नि कालेऽर्थे एद्युस्प्रत्यये अन्येद्युः । 'सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युर धरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः'[५।३।२२॥] इति **'पा०'** सूत्रेण च अन्येद्युर्निपातः । **अन्येद्युः**-द्वाविंशे दिने ।

मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामसाविति 'मनिंच्-ज्ञाने' इति धातोः 'मने-रुदेतौ चाऽस्य वा' ॥६१२॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'इ'प्रत्ययेऽकारस्योकारे च मुनिः ज्ञातवान् पुंस्त्रीलिङ्गः । "अथ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः वाचंयमो व्रती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः निर्ग्रन्थो भिक्षुः" इति हैमः[1] । **जैनेतरमते** तु-**'मुनित्रयं**

१. अभि० चि० प्र० ७५-७६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कृत्ये'त्यस्य व्याख्याने **तत्त्वबोधिन्यां** मन्ता-वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्ता, इति । 'मनेरुदेतौ चास्य वा' इत्यौणादिकसूत्रेण मनेरत उकारे मनेः परे इन्प्रत्यये च मुनिः । अथवा मननशीलो मुनिरिति । मुनिशब्दः सप्तसङ्ख्यायामपि । अत्र वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्ता मुनिर्ग्राह्यः । हूयतेऽसावग्नाविति होमः । 'अर्तीरि-स्तु-सु-हु-सृ-घृ-धृ-शृ-क्षि-यक्षि-भा-वा-व्या-धा-पा-या-वलि-पदि-नीभ्यो मः' ॥३३८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'हुंक्-दानादनयोः (दानमिह हविष्प्रक्षेपः) धातोः 'म' प्रत्यये, '**पाणिनि**' मते च मनिप्रत्यये होमः-आहुतिः । "स्याद् देवयज्ञ आहुतिः होमो होत्रं वषट्कारः" इति हैमः[1] । हूयतेऽस्मिन्निति होमः इत्यधिकरणेऽपि पु० ।"देवतोद्देशेन वह्नौ, मन्त्रद्वारा घृतादित्यागरूपे हवने; **जैनेतरमते** तु नित्यं गृहस्थकर्तव्येषु पञ्चसु यज्ञेषु मध्ये देवयज्ञे, श्राद्धीयविप्रपाणौ, श्रद्धी(श्राद्धीय?)यागभागस्य मन्त्रेण दाने च" । होमाय होमस्य वा धेनुः होमधेनुः । मुनेः होमधेनुः **मुनिहोमधेनुः** । मुनेः होमार्थं घृतपयोदध्यादिसाधन(नं) नन्दिनी, इदमपि **जैनेतरमते** एव ।

अतति, सततं गच्छतीति अत्-सातत्यगमने' धातोः 'सात्मन्नात्मन्-वेमन्-रोमन्-क्लोमन्-ललामन्-नामन्-पाप्मन्-पक्ष्मन्-यक्ष्मन्निति' ॥९१६॥ इति 'उणादिश्रीसि०'सूत्रेण मन्प्रत्ययान्ता, '**पाणिनि**'मते च मनिण्प्रत्ययान्तो निपातः, अतेर्दीर्घश्चेत्यात्मा जीवः । "क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषश्चेतनः" इति हैमः[2] । अथवा अतत्यनेनेति आत्मा-स्वभावः । "स्याद्रूपं लक्षणं भावश्चाऽऽत्मप्रकृतिरीतयः, सहजो रूपतत्त्वं च धर्मः सर्गो निसर्गवत्; शीलं सतत्त्वं संसिद्धिः" इति हैमः[3] । "आत्मा स्वरूपे, यत्ने, देहे, मनसि, वृत्तौ, बुद्धौ, अर्के, वह्नौ, वायौ, जीवे, ब्रह्मणि च" ।

"आत्ममातुः स्वसुः पुत्रां, आत्मपितुः स्वसुः सुताः ।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया ह्यात्मबान्धवाः ॥"

इत्युक्त्यनुसारेणाऽत्र आत्मा स्वीयार्थः । अनुचरतीति अनु-उपसर्गपूर्वात् 'चर्-गतिभक्षणयोः' इति धातोः अच्प्रत्यये, '**पा०**' मते चट्प्रत्यये अनुचरः-

---

१. अभि० चि० तृ० ८२१ ।

२. अभि० चि० ष० १३६६ ।

३. अभि० चि० ष० १३७६-७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुगामी । "सहायोऽभिचरोऽनोश्च जीवि-गामि-चर-प्लवाः सेवकः" इति हैमः[1] । अनुचरः त्रिलि० सहचरे, पश्चाद्गामिनि दासादौ । अनुगतश्चरं दूतं गतिस० । दूतानुगे त्रि० । आत्मनोऽनुचरः आत्मानुचरः, तस्याऽऽ**त्मानुचरस्य**-स्वसेवकस्य राज्ञः ।

भावयति विचारयतीति भूधातोर्णिचि घञि भावः । "भावो विद्वान्" इति हैमः[2] । यद्वाऽन्तर्गतवासनात्मतया वर्तमानं रत्याख्यं भावं भावयतीति भावः-अङ्गस्याऽल्पो विकारः । "भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः" इति हैमः[3] । भवत्यस्मिन्निति वा भावः-अभिप्रायः पुंक्लीबलिङ्गः । "छन्दोऽभिप्राय आकूतं मतभावाशया अपि" इति हैमः[4] । "भावोऽभिप्राय आशयः" इति च **यादवः** । 'पाणि०' मते तु भावः पुंलिङ्गः । भावयति चिन्तयति पदार्थान्, चुरादिभूधातोरचि । भौवादिकात् णो वा । "नाट्योक्तौ-नानापदार्थचिन्तके पण्डिते । भावयति ज्ञापयति हृदयगतम्, भू-णिच्-अच् । हृदयगतावस्थावेदके, मानसविकारे, स्वेदकम्पादौ, व्यभिचारिभावे, भू-भावे घञ्, शुद्धधात्वर्थे-यथा पाक इत्यत्र विक्लित्त्यनुकूलव्यापारः पच्धात्वर्थः, एवमेव विक्लित्त्यनुकूलव्यापारो घञर्थः । "साध्यरूपे सिद्धरूपे वा, क्रियारूपे, धातोरर्थे, रागे, आशये, प्रकृतिजन्यबोधे, प्रकारीभूते, भावे च" । अत्र तु रागार्थ आशयार्थो वा । तं **भावम्**-अभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । ज्ञातुमिच्छति इति 'तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः' (३।४।२१।।) इति '**श्रीसि०**'सूत्रेण ज्ञाधातोः इच्छार्थे सन्, ततः 'शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ' (५।२।२०।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेणाऽऽनशि 'अतो म आने' (४।४।११४।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण मकारागमे आपि च **जिज्ञासमाना** । '**पाणि०**' मते च 'धातोः कर्मणि(णः) समानकर्तृकादिच्छायां वा' [३।१।७।।] इति सूत्रेण सन्, 'ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः' [१।३।५७।।] इति सूत्रेणाऽऽत्मनेपदम्, 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' [३।२।१२४।।] इति सूत्रेण शानचि, 'आने मुक् च (मुक्) [७।२।८२।।] इति सूत्रेण मुगागमे टापि च जिज्ञासमाना- ज्ञातुमिच्छन्ती (सती) ।

---

१. अभि० चि० तृ० ४९६ ।
२. अभि० चि० द्वि० ३३२ ।
३. अभि० चि० तृ० ५०९ ।
४. अभि० चि० ष० १३८३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छति समुद्रमिति 'गम्लृं-गतौ' इति धातोः 'गम्यमि-रम्यजि-गद्यदि-छो-गडि-खडि-गृ-भृ-वृ-स्वृभ्यो गः' ॥९२॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण गप्रत्यये, **'पाणि०'** मते च गन्प्रत्यये गङ्गा-देवनदी स्त्री० । "गङ्गा स्वनामख्याते, नदीभेदे" । "गङ्गा त्रिपथगा भागीरथी त्रिदशदीर्घिका त्रिस्रोता जाह्नवी मन्दाकिनी भीष्मकुमारसूः सरिद्वरा विष्णुपदी सिद्धस्वःस्वर्गिखापगा ऋषिकुल्या हैमवती स्वर्वापी हरशेखरा" इति हैमः[1] । प्रपतन्ति अस्मिन्निति 'पत्लृं-पतने' धातोः 'व्यञ्जनादञ् (द् घञ्)' (५।३।१३२।।) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण पुंनाम्नि करणाधारे घञि प्रपातः । प्रपतन्त्यस्मादिति वा 'भावाकर्त्रोर्घञ् (कर्त्रोः) (५।३।१८।।) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण घञि प्रपातः । "प्रपातस्त्वतटो भृगुः" इति हैमः[2] । 'प्रपत्यते यस्मात् तटात् स भृगुः इत्येके' इति **तद्वृत्तौ** । यद्वा प्रपतनं प्रपातः, भावि घञि प्रपातः- छलादाक्रमणमित्यर्थः । "प्रपातस्त्वभ्यवस्कन्दो धाट्यभ्यासादनं च सः" इति हैमः[3] । "प्रपातः पुंलि० तटरहिते निरवलम्बे पर्वतस्थाने, निर्झरे, कूले, अवस्कन्दे च, भावे घञि पतने" । अत्र त्वधिकरणव्युत्पत्या पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातः गङ्गाप्रपातः । **जैनमते- चुल्लहिमवत्पर्**वताधोवर्ती **गङ्गाप्रपात**नामा कुण्डविशेषोऽप्यस्ति । अमतीति 'अम्-गतौ' धातोः 'दम्यति-तमि-वा-पू-धू-गृ-जृ-हसि-वस्यसि-वितसि-मसीण्भ्यस्तः' ॥२००॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण तप्रत्यये, **'पाणि०'** मते तन्प्रत्यये च "अन्तः-अवसानं, धर्मः समीपं च "अथाऽन्तिमं जघन्यमन्त्यं चरममन्तः पाश्चात्यपश्चिमे" इति हैमः[4] । यद्वा अमति सन्देहाभावमिति अन्तः-निर्णयः । "निर्णयो निश्चयोऽन्तः" इति हैमः[5] । अमत्यनेन वाऽन्तः - सीमा । "आघाटस्तु घटोऽवधिः, अन्तोऽवसानं सीमा च मर्यादाऽपि च सीमनि" इति हैमः[6] । "अन्तः नपुं० स्वरूपे, स्वभावे च, शेषे पुंनपुं०, नाशे, प्रान्ते, सीमायां, निश्चये, अवयवे च पुं० , निकटे मनोहरे च त्रिलिङ्गः" । अत्र तु सामीप्ये । गङ्गाप्रपातान्तः । विशेषेण रोहन्ति, रोहन्ति स्मेति वा; विउपसर्गात्

---

१. अभि० चि० च० १०८१-८२।
२. अभि० चि० च० १०३२ ।
३. अभि० चि० तृ० ८०० ।
४. अभि० चि० ष० १४५९ ।
५. अभि० चि० ष० १३७४ ।
६. अभि० चि० तृ० ९६२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'रुह्-प्ररोहणे' धातोः कर्तरि क्ते विरूढानि । 'विरूढशब्दः त्रिलि० जाते अङ्कूरिते च' । शीयत इति 'शदि-बाधि-खनि-हनेः(ने) षः च' ॥२९९॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'शद्लृं-शातने' धातोः 'प'प्रत्यये षान्तादेशे च शष्पं-बालतृणम् । यद्वा शषतीति 'शष्-हिंसायां' धातोः 'प प्रत्यये, **'पाणि०'** मते च 'पक्' प्रत्यये शष्पम् । "शष्पं तु तदनेवं (तद् नवम्)" इति हैमः[1] । 'तत् तृणं नवोद्भिन्नं बालम्' इति **तद्वृत्तिः** । "शष्पं बालतृण(णं) घासः" इत्यमरः[2] । "शष्पं नपुं० बालतृणघासे; प्रतिभाक्षये पुं०" । गङ्गाप्रपातान्ते जाह्नवीपतनप्रदेशसमीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्य तदिति **गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पम्** ।

गौरत्वात् गौरशब्दात् 'गौरादिभ्यो मुख्यान् ङीः ।२।४।१९॥ इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण ङीप्रत्यये, **'पा०'** मते च ङीप्प्रत्यये गौरी-पार्वती । "गौरी काली पार्वती मातृमाताऽपर्णा रुद्राण्यम्बिका त्र्यम्बकोमा दुर्गा चण्डी सिंहयाना मृडानी कात्यायन्यौ दक्षजाऽऽर्या कुमारी सती शिवा महादेवी शर्वाणी सर्वमङ्गला भवानी कृष्णमैनाकस्वसा मेनाद्रिजेश्वरा निशुम्भ-शुम्भ-महिष मथनी भूतनायिका" इति हैमः[3] ।

हैमशेषश्च[4]-

गौतमी कौशिकी कृष्णा तामसी बाभ्रवी जया ।
कालरात्रिः महामाया भ्रामरी यादवी वरा ॥१॥

बहिर्ध्वजा शूलधरा परमब्रह्मचारिणी ।
अमोघा विन्ध्यनिलया षष्ठी कान्तारवासिनी ॥२॥

जाङ्गुली बदरीवासा वरदा कृष्णपिङ्गला ।
दृषद्वतीन्द्रभगिनी प्रगल्भा रेवती तथा ॥३॥

महाविद्या सीनीबाली स्कदन्त्येकपाटला ।
एकपर्णा बहुभुजा नन्दपुत्री महाजया ॥४॥

---

१. अभि० चि० तृ० ११९१ ।
२. अम० द्वि० वनौषधिवर्गे - ९८३ ।
३. अभि० चि० द्वि० २०३-४-५
४. अभि० चि० हैमशेषे ४९-६१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भद्रकाली महाकाली योगिनी गणनायिका ।
हासा भीमा प्रकुष्माण्डी गदिनी वारुणी हिमा ॥५॥

अनन्ता विजया क्षेमा मानस्तोका कुहावती ।
चारणा च पितृगणा स्कन्धमाता घनाञ्जनी ॥६॥

गान्धर्वी कर्बुरा गार्गी सावित्री ब्रह्मचारिणी ।
कोटिश्रीः मन्दरावासा केशी मलयवासिनी ॥७॥

कालायनी विशालाक्षी किराती गोकुलोद्भवा ।
एकानसी नारायणी शैला शाकम्भरीश्वरी ॥८॥

प्रकीर्णकेशी कुण्डा नीलवस्त्रोग्रचारिणी ।
अष्टादशभुजा पौत्री शिवदूती यमस्वसा ॥९॥

सुनन्दा विकचा लम्बा जयन्ती नकुला कुला ।
विलङ्का नन्दिनी नन्दा नन्दयन्ती निरञ्जना ॥१०॥

कालञ्जरी शतमुखी विकराला करालिका ।
विरजाः पुरला जारी बहुपुत्री कुलेश्वरी ॥११॥

कैटभी कालदमनी दर्दुरा कुलदेवता ।
रौद्री कुन्द्रा महारौद्री कालङ्कमा महानिशा ॥१२॥

बलदेवस्वसापुत्री हीरी क्षेमङ्करी प्रभा ।
मारी हैमवती चाऽपि गोला शिखरवासिनी ॥१३॥ इति ।

"गौर्युमा नग्निकोर्वीषु" **इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः**[1] ।

षोडशसु विद्यादेवीषु नवमी विद्यादेवी । विद्यादेव्यस्तु षोडश-

रोहिणी प्रज्ञप्तिर्वज्रशृङ्खला कुलिशाङ्कुशा ।
चक्रेश्वरी नरदत्ता काल्यथाऽसौ महापरा ॥१॥

गौरी गान्धारी सर्वास्त्रमहाज्वाला च मानवी ।
वैरोट्यऽच्छुप्ता मानसी महामानसिकेति ताः ॥२॥ इति **हैमः**[2] ।

१. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ४०३-४ । २. अभि० चि० द्वि० २३९-४० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गूयते इति वा [गौरः] 'खुर-क्षुर-दूर-गौर-विप्र-कुप्र-श्वभ्राभ्र-धूम्रान्ध्र-रन्ध्रशिलीन्ध्रौड्र-पुण्ड्र-तीव्र-तीव्र-शीघ्रोग्र-तुग्र-भुग्र-निद्रा-तन्द्रा-सान्द्र-गुन्द्रा-रिज्रादयः' ॥३९६॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण गौर इति रान्तो निपातः । गौरः-अवदातः, ततो ङ्यां गौरी-स्त्रीधर्मरहिता । गूयते उपादेयतया गौरी । "गौरी तु नग्निकाऽरजाः" इति हैमः[१] ।

'अष्टवर्षा भवेद् गौरी दशमे नग्निका भवेत्'- इति च **स्मार्तो** विशेषः । गौरी स्त्री० ।

"शङ्खेन्दुकुन्दधवला, ततो गौरी तु सा मता ॥" इत्युक्त्यां पार्वत्याम्, "अष्टवर्षा भवेद्गौरी" इत्युक्त्यामष्टवर्षायां असञ्जातरजस्कायां कन्यायाम्, हरिद्रायाम्, दारुहरिद्रायाम्, गोरोचनायाम्, प्रियङ्गौ, भूमौ, नदीभेदे, मञ्जिष्ठायाम्, श्वेतदूर्वायाम्, मल्लिकायाम्, तुलस्याम्, स्वर्णकदल्याम्, आकाशमांस्याम्, रागिणीभेदे च" । अत्र तु पार्वत्यर्थः । गौर्याः गुरुः गौरीगुरुः, तस्य **गौरीगुरोः**-पार्वतिपितुः - हिमाचलस्येत्यर्थः ।

गूहति गाह्यते वेति 'तीवर-धीवर-पीवर-छित्वर-छत्वर-गह्वरोपह्वर-संयद्वरोदुम्बरादयः' ॥४४४॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण वरट्प्रत्ययान्ता(त)-निपातने गह्वरम् । गुहेरच्चोतः । गह्वरं गहनं महाबिलं भयानकं प्रत्यन्तदेशश्च । यद्वा गह्वाः सन्त्यत्रेति वा अश्वादित्वाद् रनिपातने गह्वरम् । "अखातबिले तु गह्वरं गुहा" इति हैमः[२] । रुदितविशेषो वा गह्वरम् । "तदपुष्टं तु गह्वरं(रः)" इति हैमः[३] । तद् रुदितम् अपुष्टं गद्गद्स्वरत्वाद् जातोच्चपूत्कारं गाहते हृदयान्तरिति गह्वरम् । 'जठर-क्कर-मकर-शङ्कर-कर्पर-कूर्पर-तोमर-पामर-प्रामर-प्राद्मर-सगर-नगर-तगरोर्दरादर-शृदर-दृदर-कृदर-कुकुन्दर-गोर्वराम्बर-मुखर-खर-डहर-कुञ्जरा-जगरादयः' ॥४०३॥ इणि 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण गाह्धातोः किदरप्रत्ययान्तो निपातः । **'पा०'** मते तु गह्वर पु०, गाह्धातोर्वरच्प्रत्यये निपात्यते । "निकुञ्जे, दम्भे, स्त्रे, रोदने, विषमस्थाने, अनेकानर्थसङ्कटे च नपुं० गुहायां नपुंस्त्री०" ।

१. अभि० चि० तृ० ५१० ।
२. अभि० चि० च० १०३३ ।
३. अभि०चि० ष० १४०२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"गह्वरो बिलदम्भयोः, कुञ्जेऽथ" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः । स्त्रीत्वपक्षे ङीप् । अत्र तु गुहार्थः । तद् **गह्वरम्**-गुहाम् । **आविवेश**-प्रविवेश ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्-अन्येद्युर्मुनिहोमधेन्वा आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमानया सत्या गङ्गाप्रपातान्तर्विरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरमाविवेशे ॥

द्वाविंशे दिने धेनुः निजसेवकस्याऽभिप्रायं ज्ञातुमिच्छन्ती द्वाविंशे दिने नन्दिनी किमयं स्वार्थसाधनानुरोधादुत विशुद्धभक्तियोगात् मामेवं सेवते, इति मायाबलेन निजसेवकस्य दिलीपस्याऽभिप्रायं ज्ञातुमिच्छन्ती सुरसरित्प्रपातान्तर्विरूढबालतृणां हिमालयगुहामाविवेश, इति सरलार्थः ॥२६॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

सेति । सा नन्दिनी । हिंसन्तीत्येवंशीला इति हिंसनशीला 'स्मय-जस-हिंस-दीप-कम्प-कम-नमो रः' (५।२।७९॥) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण 'हिंस्-हिंसने' धातोः शीलादावर्थे 'र' प्रत्यये हिंस्राः-व्याधाः । "हिंस्रै(स्रे) शरारुधा(घा)तुकौ" इति हैमः[2] । "हिंस्रः स्याद्घातुके हिंस्रा मांसी काकादनी वसा" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[3] । "**पा०**' मतेऽपि हिंस्धातोः रप्रत्यये हिंस्रः त्रिलिङ्गः । "हिंसाशीले, घोरे, भये, हरे, भीमसेने च पुं०, मांस्याम्, काकादन्याम्, एलवालुकायाम्, नाड्याम्, जटामांस्याम्, गवेधुकायाम्, शिरायां च स्त्री०" । अत्र घातुकार्थः । तैः **हिंस्रैः**-घातुकैर्व्याघ्रादिभिः इत्यर्थः ।

मन्यते जानात्यर्थमिति 'अस्' ॥९५२॥ इति 'उणादि श्रीसि०' सूत्रेण 'मनिच्-ज्ञाने' इति धातोः अस्प्रत्यये मनः-नोइन्द्रियम् । "अन्तःकरणं मानसं मनः, हृच्चेतो हृदयं चित्तं स्वान्तं गूढपथोच्चलेः" इति हैमः[4] । 'यदवोचामस्तर्के सर्वार्थसंग्रहणं मनः' इति **तद्वृत्तौ** । **'पाणि०'** मते 'मन्-बोधे' दिवादिः आत्मने० सक० अनिट्धातोः तनादिः आत्म० सक० सेट्धातोर्वा मन्यतेऽनेनेति असिप्रत्यये करणे असुन्प्रत्यये वा मनः, सर्वेन्द्रियप्रवर्तके अतीन्द्रिये इति **न्यायमते**,

---

१. अनेकार्थसङ्ग्रहे तृ० ५४३ ।

२. अभि०चि०तृ० ३६९ ।

३. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ४६१ ।   ४. अभि० चि० ष० १३६९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदान्तमते सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तिमदन्तःकरणे, तच्च सुखदुःखाद्याधारः, कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव इति **श्रुतेः**। **न्यायमते** तज्ज्ञानसाधनमिति भेदः, मनःशिलायां च"। इह तु सर्वेन्द्रिय-प्रवर्तकमतीन्द्रियम्। तच्च **न्यायमते**ऽणुस्वरूपम्। तदसाम्प्रतम्। सर्वत्र देहावयवाच्छेदेन सुखदुःखाद्युपलब्धेः। **जैनमते** 'जीववत् सर्वशरीरावगाहि मनस्त्वेन परिणतमनोवर्गणापुद्गलसमूहात्मकम्। तेन **मनसा**। **अपि**-पुनः।

दुःखेन धृष्यतेऽसौ इति **दुष्प्रधर्षा**-दुर्धर्षा-अनभिभवनीयेति यावत्। एतीति इण्धातोः क्तिच्प्रत्यये इति-अव्ययं, "हेतौ, प्रकाशने, निदर्शने, प्रकारे, अनुकर्षे, समाप्तौ, प्रकरणे, स्वरूपे, सान्निध्ये, विवक्षानियमे, मते, प्रत्यक्षे, अवधारणे, व्यवस्थायां, परामर्शे, माने, इत्थमर्थे, प्रकर्षे, उपक्रमे च"। अत्र हेत्वर्थः। **इति**-हेतोः।

अद्यते वज्रेणेति 'तङ्कि-वङ्क्यङ्कि-मङ्क्य-ह्रि-शद्यदि सद्यशौ-वपि-वशिभ्यो रिः' ॥६९२॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'अदंक्-भक्षणे' धातोः रिप्रत्यये अद्रिः-पर्वतः। "शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान् ग्रावा पर्वतभूध्रभूधरधराहार्या नगः" इति हैमः[१]। "गिरौ प्रपाती कुट्टारः उर्वङ्गः कन्दराकरः" इति हैमशेषः[२]। अद्रिः-वृक्षः।

"वृक्षोऽगः शिखरी च शाखिफलदावद्रिर्हरिद्रुर्द्रुमो
जीर्णो द्रुर्विटपी कुठः क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः।
नन्द्यावर्तकरालिकौ तरुवसू पर्णी पुलाक्यंह्रिपः
सालानोकहगच्छपादपनगा रुक्षागमौ पुष्पदः॥" इति हैमः[३]।

"वृक्षे चाऽऽरोहकः स्कन्धी सीमिकः हरितच्छदः उरुः जन्तुः वह्निभूश्च" इति हैमशेषः[४]। **जैनेतरमतेनेन्द्र**शत्रुसप्तके द्वितीयो द्विट्। तत्र अदन्तीति अद्रयः। "अस्य तु द्विषः पाकोऽद्रयो वृत्रः पुलोमा नमुचिर्बलः जम्भः" इति हैमः[५]। अस्येतीन्द्रस्य द्विषः शत्रवः, ते तु पाकादयः सप्त। **'पा०'** मते तु अद्धातोः

१. अभि० चि० च० १०२७। २. अभि० चि० हैमशेषे - १५८।
३. अभि० चि० च० १११४। ४. अभि० चि० हैमशेषे-१७३-७४।
५. अभि० चि० द्वि० १७४-७५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्तिन्प्रत्यये अद्रिः पुं० । "पर्वते, वृक्षे, सूर्ये, परिमाणभेदे च" । अत्र तु पर्वतोऽद्रिः । शोभनं भिदादित्वात् अङि शोभा । "आभा राढा विभूषा श्रीरभिख्या-कान्ति-विभ्रमाः लक्ष्मीश्छाया च शोभायाम्" इति हैमः[1] । शोभा अलङ्कारविशेषः । "प्रागल्भ्यौदार्यमाधुर्यशोभाधीरत्वकान्तयः दीप्तिश्चायत्नजाः" इति हैमः[2] । शोभा रूपाद्यैः पुंभोगोपबृंहितैः किञ्चिच्छायान्तराश्रयणम् इति **तद्वृत्तिः** । '**पा०**' मते शोभते इति शुभ्धातोः अप्रत्यये टापि च शोभा स्त्री० । "दीप्तौ, हरिद्रायां, गोरोचनायां च" । अत्र तु दीप्तिः कान्तिर्वा । अद्रेः-पर्वतस्य शोभा-कान्तिः अद्रिशोभा । प्रहि(ही)येते स्मेति प्रपूर्वात् 'हि-वधने गतौ च' धातोः धाधातोर्वा कर्मणि क्ते प्रहितं त्रिलिङ्गः । "क्षिप्ते, निरस्ते, प्रेरिते च, सूपे न०" । अत्र तु क्षिप्तः प्रेरितो वाऽर्थः । ईक्ष्यत आभ्यामिति ईक्षणे नेत्रे । 'चक्षुरक्षीक्षणं नेत्रं नयनं दृष्टिरम्बकं लोचनं दर्शनं दृक् च''इति हैमः[3] । "अक्ष्णि रूपग्रहो देवदीपः" इति हैमशेषः[4] । यद्वा ईक्ष्यते इति ईक्षणम्-अवलोकनम् । "ईक्षणं तु निशामनम्, निभालनं, निशमनं, निध्यानमवलोकनम्, दर्शनं, द्योतनं निर्वर्णनं च" इति हैमः[5] । '**पा०**' मते ईक्ष्धातोर्भावे ल्युटि अवलोकने, करणे ल्युटि नेत्रे च" । अत्र तु नेत्रार्थः । अद्रिशोभायां अद्रिशोभायै वा प्रहिते ईक्षणे येन स अद्रिशोभाप्रहितेक्षणः, **तेनाऽद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन**-पर्वतशोभावलोकनदत्तनयनेन ।

नृशब्दात् पाधातोः अप्रत्यये, '**पा०**' मते च कप्रत्यये नॄन् पातीति नृपो राजा । "राजा राट् पृथिवीशक्रमध्यलोकेश भूभृतः, महीक्षित् पार्थिवो मूर्धाभिषिक्तो भू-प्रजा-नृ-पः" इति हैमः[6] । "नृपः चतुर्योजनपर्यन्तेष्वधिकारी नृपो भवेत्" इत्युक्ते, राजविशेषे, राजमात्रे च । अत्र राजमात्रः । तेन **नृपेण**-राज्ञा दिलीपेन । लक्ष्यते स्मेति लक्षितम् । 'लक्ष्-दर्शने' धातोः कर्मणि क्ते लक्षितं त्रिलिङ्गः । "लक्षणया बोधितेऽर्थे, ज्ञाते, अनुमिते च । कर्तरि क्ते लक्षणाश्रये, लक्षकशब्दे च" । अत्र तु ज्ञातार्थः । न लक्षितं अलक्षितं अज्ञातम् । न भातीति भाधातोः किप्रत्यये अभि अव्ययं "कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य द्योतने, आभिमुख्ये, अभिलाषे, वीप्सायाम्, लक्षणे, समन्तादर्थे च" । अत्राऽऽभिमुख्यमर्थः । उत्पूर्वात् पत्धातोः

---

१. अभि० चि० ष० १५१२ ।
२. अभि० चि० तृ० ५०९ ।
३. अभि० चि० तृ० ५७५ ।
४. अभि० चि० हैमशेषे - १२१ ।
५. अभि० चि० तृ० ५७६-७७ ।
६. अभि० चि० तृ० ६८९-९० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावे ल्युटि उत्पतनमिति, उत्पत्यते इति उत्पतनम्, ऊर्ध्वगमने उत्पत्तौ च । आभिमुख्येन उत्पतनं अभ्युत्पतनम् । अलक्षितं अभ्युत्पतनं यस्य सः **अलक्षिताभ्युत्पतनः**-अदृष्टाक्रमणः ।

हिनस्तीति **सिंहः** । 'हिंसेः सिम् च' ॥५८८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'हिंसुप्-हिंसायाम्' इत्यस्माद् धः प्रत्ययः अस्य च सिमादेशः सिंहः-मृगराजः । यद्वा हिंस्धातोरचि पृषोदरादित्वात् सिंहः । "सिंहः कण्ठीरवो हरिः, हर्यक्षः, केसरीभारिः, पञ्चास्यो, नखरायुधः, महानादः, पञ्चशिखः, पारिन्द्रः, पत्यरी, मृगात्, श्वेतपिङ्गोऽपि" इति हैमः[1] । सिंहे तु स्यात् "पलङ्कषः शैलाटो वनराजो नभःक्रान्तो गणेश्वरः शृङ्गोष्णीषो रक्तजिह्वो व्यादीर्णास्यः सुगन्धिकः" इति हैमशेषः[2] । "सिंहस्तु राशिभेदे मृगाधिपे श्रेष्ठे स्यादुत्तरस्थश्च" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[3] । सिंहः चतुर्विंशस्य जिनपतेर्लाञ्छनं भगवतो **वर्द्धमानस्वामिनः** । 'पा०' मते सिच्धातोः कप्रत्यये हिंस्धातोरचि वा पृषोदरादित्वात् "सिंहः पुंस्त्री०, 'सिंहो वर्णविपर्ययात्' । स्वनामख्याते पशुभेदे, रक्तशोभाञ्जने, मेषादितः पञ्चमे राशौ च, पदान्तस्थः श्रेष्ठार्थे च" । अत्र पशुभेदः मृगराजः । "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः" इत्यमरः[4] । प्रहसनं (प्रसहनं) पूर्वमति **प्रसह्य** हठे । "हठे प्रसह्य" इति हैमः[5] । यथा-'प्रसह्य वित्तानि हरन्ति चौराः' । **'पा०'** मते प्रपूर्वात् सह्धातोः ल्यपि प्रसह्य अव्ययं हठादित्यर्थे । "प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतैः" इति **माघः** । "प्रसह्य तु हठार्थकम्" इत्यमरः[6] । किल्धातोः कप्रत्यये किल अव्ययं, "वार्तायाम्, अनुशयार्थे, निश्चये, सम्भाव्ये, प्रसिद्धप्रमाणद्योतके, सत्ये, हेतौ, अरुचौ, अलीके, तिरस्कारे च" । अत्र **किलेत्**यलीके ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम् -तया हिंस्रैर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षया (भूयते) इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनेन सिंहेन प्रसह्य सा चकृषे ॥

किल महाप्रभावामिमां कामधेनुम् । सिंहादयो मनसाऽप्यभिभवितुं न प्रभवन्तीति निश्चित्य पर्वतशोभावलोकनदत्तदृष्टिना भूपेनाऽवलोकित एव सिंहो झटिति हठात् तां कामधेनोर(नुम)लीकमाययाऽऽक्रान्तवान्, इति सरलार्थः ॥२७॥

---

१. अभि० चि० च० १२८३-८४-८५ ।
२. अभि० चि० हैमशेषे १८४-८५ ।
३. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ५९०-९१ ।
४. अम० द्वि० सिंहादिवर्गे - ९८९ ।
५. अभि० चि० ष० १५३९ ।
६. अम० तृ० अव्ययवर्गे - २८६९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

तदीयमिति । गुह्यतेऽनयेति भिदादित्वात् अङि गुहा-गह्वरम् । "अखातबिले तु गह्वरं गुहा" इति हैमः[1] । "गुहः स्कन्दे गुहा पुनः, गह्वरे सिंहपुच्छ्यां च" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[2] । '**पा०**' मते गुह पुं० । गुह्धातोः कप्रत्यये "कार्तिकेये, अश्वे, राममित्रे, शृङ्गवेराधिपे चण्डालनाथे गते विष्णौ च पुं०, सिंहपुच्छीलतायाम्, अकृत्रिमे, देवखाते, पर्वतगर्ते हृदये च स्त्री०" । "गुहां प्रविष्टो" इति **श्रुतिः**, "सैषा गुहा दुरवगाहा" इति च **श्रुतिः** । "दरि तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा" इत्यमरः[3] । अत्र तु गह्वरार्थः । नितरां बध्यते स्मेति निबद्धः-नियन्त्रितः । "**बद्धो निगडितो नद्धः कीलितो यन्त्रितः सितः, (सन्दानितः संयतश्च)** इति हैमः[4] । शपति कूटोच्चारणमिति 'शा-शपि-मनि-कनिभ्यो दः' ॥२३७॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'शर्पी-आक्रोशे' धातोः दप्रत्यये शब्दः-श्रोत्रग्राह्योऽर्थः । यद्वा शब्द्यते इति शब्दः । "शब्दो निनादो निर्घोषः स्वानो ध्वानः स्वरो ध्वनिः, निर्ह्रादो निनदो ह्रादो निःस्वानो निःस्वनः स्वनः, रवो नादः स्वनिर्घोषः संव्याङ्भ्यो राव आरवः, क्वणनं निक्वणः क्वाणो निक्वाणश्च क्वणो रणः" इति हैमः[5] । 'शब्द-शब्दकरणे' अदादिः चुरादिः उभ० सक० सेट्धातोः घञि शप्धातोर्दन्प्रत्यये वा शब्दः पुं० "ध्वन्यात्मके, वर्णात्मके च श्रोत्रेन्द्रियग्राह्ये, नैयायिकादिमते आकाशादिस्थे गुणभेदे च" । आकाशगुणः शब्दः' इति **नैयायिकाः** । तदसाम्प्रतम् । शब्दप्रतिघातादेरनुग्रहोपघातदर्शनात् **फोनोग्राफा**दिषु गृह्यमाणत्वाच्च भाषात्वपरिणतभाषावर्गणापुद्गलस्कन्धरूपोऽयम् । प्रथधातोर्डति-प्रत्यये प्रति अव्ययं, "व्याप्तौ, लक्षणे, कञ्चित्प्रकारमापन्नस्य कथने, भागे, प्रतिदाने, प्रतिनिधीकरणे, स्तोके, क्षेपे, निश्चये, व्यावृत्तौ, आभिमुख्ये, स्वभावे च" । अत्र व्याप्त्यर्थः । प्रतिरूपः(गतः) शब्दः प्रतिशब्दः-प्रतिध्वनिः । दृणाति हृस्वभावमिति

---

१. अभि० चि० च० १०३३ ।

२. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ५८५ ।

३. अम० द्वि० शैलवर्गे - ६४४ ।

४. अभि० चि० तृ० ४३८-३९ ।

५. अभि० चि० ष० १३९९-१४०० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मघा घङ्घाघदीर्घादय:' ॥११०॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण दृणातेर्दीरि घप्रत्ययान्ते निपातने दीर्घ: अन्य(आय)त: उच्चश्च । "दीर्घायते समे" इति हैमः[1] । "दवीयश्च दविष्ठं च सुदूरं दीर्घमायतम्" इत्यमरः[2] । 'पा०' मते तु दृधातोः र्घा घस्य नेत्वम् (?) दीर्घ: पुं० । "शाललतावृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च; आयते त्रिलिङ्गः" । अत्र त्वायतार्थः । गुहायां निबद्धः गुहानिबद्धः, गुहानिबद्धश्चाऽसौ प्रतिशब्दश्च गुहानिबद्धप्रतिशब्दः, गुहानिबद्धप्रतिशब्देन दीर्घम् **गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्**-कन्दरप्रतिबद्धप्रतिध्वानायतम् ।

तस्याः इदम् **तदीयम्** । आप्धातोः क्विपि पृषोदरादित्वात् पलोपे आ अव्ययं, "वाक्ये (वाक्यस्याऽन्यथात्वद्योतने), "पूर्वमेवं मंस्था इदानीमेवम्" इति प्रतिपादनपरे स्मृतौ (आ एवं मन्यसे इति स्मृतस्याऽन्यथापादने), अनुकम्पायां, समुच्चये, अङ्गीकारे, ईषदर्थे, क्रियायोगे, सीमायां व्याप्तौ च" । वाक्यस्मृतिभिन्नेऽस्य ङित्वमिच्छन्ति, यदाह-

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ इति ।

इह व्याप्त्यर्थः । आक्रन्दनं रुदितम् **आक्रन्दितम्** । "रुदितं क्रन्दितं क्रुष्टम्" इति हैमः[3] । यद्वा आक्रन्द्यते इति आक्रन्दितम् । 'पा०' मते आङ्पूर्वात् क्रन्द्धातोः क्तप्रत्यये आक्रन्दितम् । आङ्पूर्वात् 'ऋ-गतौ' भ्वादिर्जुहोत्यादिश्च प० सु० (स.) अनिट् 'ॠ-हिंसायां च' क्र्यादिः पर० सक० अनिट् । तत्र गत्यर्थाद्धातोः क्तप्रत्यये ऋच्छति स्म इयर्ति स्मेति वाऽऽर्तः "पीडिते, दुःखिते, सुस्थे च" । उत्तमक्षमादिभिर्गुणविशेषैर्भावितात्मा साध्नोतीति साधुः, साधयति वा सम्यग्दर्शनादिभिः परमं पदमिति 'कृ-वा-पा-जि-स्वदि-साध्यशौ-दृस्ना-सनि-जा-निरहीण्भ्य उण्' ॥१॥ इति 'उणादिश्रीसि०'सूत्रेण 'साधंट्-संसिद्धौ' इति धातोः उत्तमक्षमादिभिस्तपोविशेषैर्भावितात्मा साध्नोति साधुः । सम्यग्दर्शनादिभिः परमपदं साधयति वा साधुः-संयतः । उभयलोकफलं वा साधयतीति साधुः-धर्मशीलः । "अथ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः, वाचंयमो यती

१. अभि० चि० ष० १४२८ ।
२. अम० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २१६२ ।
३. अभि० चि० ष० १४०२ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुरनगार ऋषिर्मुनिः, निग्रन्थो भिक्षुः" इति हैमः[1] । साधयति कार्याणीति वा साधुः-सज्जनः । "साधौ सभ्यार्यसज्जनाः"इति हैमः[2] । साधु-रमणीयम् । "चारु हारि रुचिरं मनोहरं वल्गु कान्तमभिरामबन्धुरे, वामरुच्यसुषमाणि शोभनं मञ्जुमञ्जुलमनोरमाणि च, साधुरम्यमनोज्ञानि पेशलं हृद्यसुन्दरे, काम्यं कम्रं कमनीयं सौम्यं च मधुरं प्रियम्" इति हैमः[3] ।

"साधुर्जैनमुनौ वार्द्धुषिके सज्जनरम्ययोः" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[4] । साध्नोति परकार्यमिति वा साधुः, स चैवंभूतो यदाह **पण्डितराजः**-

परार्थव्यासङ्गादुपजहदपि स्वार्थपरता-
मभेदैकत्वं यो वहति गुरुभूतेषु सततम् ।
स्वभावाद्यस्याऽन्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः ॥१॥
सत्पु(पू)रुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्याखिललोकमनुक्त एव ।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि ॥२॥

'पाणि०' मते साध्धातोरुणप्रत्यये साधुः त्रिलिङ्गः "उत्तमकुलजाते, सुन्दरे, मनोहरे, उचिते च, स्त्रियां ङीप् मुनौ, जिने च;

न प्रहृष्यति सन्माने नाऽपमाने च कुप्यति ।
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम् ॥

इत्याद्युक्तधर्मवति जने, वार्द्धुषिके च पुं०" । इह तूचितार्थः । आर्तेषु साधुः हितकारी आर्तसाधुः, तस्याऽऽर्तसाधोः-दीनरक्षणपरिचितस्य ।

नॄन् पातीति नृपः, तस्य **नृपस्य**-राज्ञो दिलीपस्य । स्थावरत्वात् न गच्छतीति 'नगोऽप्राणिनि वा' (३।२।१२७।।) इति **'श्री०सि०'** सूत्रेण 'नगः'

---

१. अभि० चि० प्र० ७५-७६ ।
२. अभि० चि० तृ० ३७९ ।
३. अभि० चि० ष० १४४४-४५ ।
४. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० २५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति निपातो वा नञोऽदभावः । नगः पर्वतोऽगोऽपि । नगाः वृक्षाः । '**पा०**' मते तु न-पूर्वात् गम्धातोः डप्रत्यये "नगः पर्वते, वृक्षे च पुं०" । अत्र तु पर्वतार्थः । इन्दतीति 'भी-वृधि-रुधि-वज्यगि-रमि-वमि-वपि-जपि-शकि-स्फायि-वन्दीन्दि-पदि-मदि-मन्दि-चन्दि-दसि-घसि-नसि-हस्यसि-वासि-दहि-सहिभ्यो रः' ॥२८७॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'इदु-परमेश्वर्ये' इति धातोः रप्रत्यये इन्द्रः-शक्रः-पूर्वदिक्पतिश्च । "इन्द्रो हरिर्दुश्च्यवनोऽच्युताग्रजो वज्री बिडौजा मघवान् पुरन्दरः, प्राचीनबर्हिः पुरुहूत-वासवौ सङ्क्रन्दनाखण्डलमेघवाहनाः, सुत्राम-वास्तोष्पति-दल्मि-शक्रा वृषा शुनासीर-सहस्रनेत्रौ, पर्जन्य-हर्यश्व-ऋभुक्षि-बाहुदन्तेय-वृद्धश्रवसस्तुराषाट्, सुरर्षभस्तपस्तक्षो जिष्णुर्वरशतक्रतुः, कौशिकः पूर्वदिग्-देवाप्सरः-स्वर्ग-शची-पतिः, पृतनाषाडुग्र-धन्वा मरुत्वान् मघवा" इति हैमः[1] । इन्द्रे तु "खदिरो नेरी त्रायस्त्रिंशपतिः जयो गौरवास्कन्दी वन्दीको वराणो देवदुन्दुभिः किणालातो हरिवान् यामनेमिरसन्महाः शयीचिर्माहिरो (शपीविः मिहिरो) वज्रदक्षिणो वि(व)युनोऽपि च" इति हैमशेषः[2] । इन्द्रः पूर्वदिक्पतिः ।

तिर्यग्दिशां तु पतय इन्द्राग्नियमनैर्ऋताः ।
वरुणो वायुकुबेरावीशानश्च यथाक्रमम् ॥ [इति हैमः[3]]

इन्द्रादयोऽष्टौ दिक्पालाः । इन्द्रः विषभेदः । "अथ हलाहलः, वत्सनाभः कालकूटो ब्रह्मपुत्रः प्रदीपनः, सौराष्ट्रिकः शौल्किकेयः काकोलो दारदोऽपि च; अहिच्छत्रो मेष शृङ्गः कुष्ठ-वालूकनन्दनाः, कैराटको हैमवतो मर्कटः करवीरकः, सर्षपो मूलको गौराद्रकः सक्तुक-कर्दमौ, अङ्कोल्लसारः कालिङ्गः, शृङ्गिको मधुसिक्थकः, इन्द्रो लाङ्गुलिको विस्फुलिङ्ग-पिङ्गलगौतमाः, मुस्तको दालवश्चेति स्थावरा विषजातयः" इति हैमः[4] । 'एते सर्वेऽपि स्थावरवनस्पतिभवत्वात् स्थावरा विषस्य जातयो भेदाः' इति । 'एते सर्वेऽपि पुंक्लीबलिङ्गाः' इति **वाचस्पतिः**' इति **तट्टीकायाम्** । इन्दनादिन्द्रः स्वामी । "अधिपस्त्वीशो नेता परिवृढोऽधिभूः,

---

१. अभि० चि० द्वि० १७१-७२-७३-७४ ।

२. अभि० चि० हैमशेषे - ३३ ।

३. अभि० चि० द्वि० १६९ ।

४. अभि० चि० च० ११९५-९६-९७-९८-९९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतीन्द्रस्वामिनाथार्याः प्रभुर्भर्त्तेश्वरो विभुः, ईशितेनो नायकश्च'' इति हैमः[1]। ''इन्द्र शक्रेऽन्तरात्मनि । आदित्ये योगभेदे च स्यादिन्द्रा तु फणिज्जके'' इत्यनेकार्थ-सङ्ग्रहः[2]। '**पाणि०**' मते तु इदिधातोः अप्रत्यये ''इन्द्रः पुं०, ''देवाधिपे, परमेश्वरे, परमैश्वर्ययुक्ते (परमशोभायुक्ते इत्यर्थः), इन्द्रदैवतज्येष्ठानक्षत्रे । द्वादशार्काश्चतुर्दश चेन्द्राः इति तु जैनेतरमते; जैनमते तु असङ्ख्या अर्काः इन्द्राश्च चतुष्षष्टिः इति । विष्कुम्भादितः षड्विंशे योगे, कुटकवृक्षे च'' । अत्र तु स्वाम्यर्थः-परमशोभायुक्तो वेत्यर्थः । नगानां नगेषु वेन्द्रः-पर्वताधिपः, पर्वतेषु शोभमानो वा हिमालयः । सज्यते स्मेति सञ्ज्धातोः कर्मणि क्ते सक्ता ''आसक्ते, अविरते च त्रिलिङ्गः'' । ''तत्परे प्रसितासक्तौ'' इत्यमरः[3]। नगेन्द्रे सक्ता नगेन्द्रसक्ता, तां **नगेन्द्रसक्ताम्**-पर्वतरामणीयकावलोकनप्रसिताम् ।

दृश्यतेऽनयेति दृश्धातोः करणे क्तिप्रत्यये, '**पा०**' मते च क्तिन्प्रत्यये दृष्टिः-चक्षुः । ''चक्षुरक्षीक्षणं नेत्रं नयनं दृष्टिरम्बकम्, लोचनं दर्शनं दृक् च'' इति हैमः[4]। ''अक्ष्णि रूपग्रहो दी(दे)वदीपः'' इति हैमशेषः[5]। दर्शनमिति भावे क्तिप्रत्यये दृष्टिः मतिः । ''मतिर्मनीषा बुद्धिर्धीर्धिषणाज्ञप्तिचेतनाः, प्रतिभा प्रतिपत् प्रज्ञाप्रेक्षाचिदुपलब्धयः, संवित्तिः शेमुषी दृष्टिः'' इति हैमः[6]। दृश्धातोः ''भावे क्ति(क्तौ) निदर्शने, बुद्धौ च, करणे क्तिनि नेत्रे, द्वित्वसङ्ख्यायाम्, ''चक्षुर्जन्यमनो-वृत्तिश्चिद्युक्ता रूपभासिकादृष्टिरित्युच्यते'' इत्युक्तायां मनोवृत्तौ च'' । अत्र तु नेत्रार्थः । जैनमते च ''ओघ-योगभेदेन द्विविधा, सम्यग्दृष्ट्यादिभेदेन त्रिविधा च । तत्र योगदृष्टिः-

''मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा क्रान्ता प्रभा परेति भेदादष्टधा'' । तत्स्वरूपं च **योगदृष्टिसमुच्चये द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकायां** च । ''दृष्टिर्ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने'' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[7]। तां **दृष्टिम्** ।

अश्नुतेऽनयेति 'अशो रश्चादिः' ॥६८८॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'अशौटि-व्याप्तौ' धातोः मिप्रत्यये धातोरादौ रेफागमे च रश्मिः प्रग्रहः मयूखश्च ।

---

१. अभि० चि० तृ० ३५८-५९ ।
२. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० ३८५ ।
३. अम० तृ० विशेष्यनिघ्नवर्गे - २०४२ ।
४. अभि० चि० तृ० ५७५ ।
५. अभि० चि० हैमशेषे - १२१ ।
६. अभि० चि० द्वि० ३०८-९ ।
७. अनेकार्थसङ्ग्रहे- द्वि० ९० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''रश्मौ वल्गाऽवक्षेपणी कुशा'' इति हैमः[1] । अश्नुते द्यामिति वा रश्मिः-किरणः । ''रोचिरुस्ररुचिशोचिरंशुगो ज्योतिरर्चिरुपधृत्यभीशवः, प्रग्रहः शुचिमरीचिदीप्तयो धामकेतुघृणिरश्मिपृश्नयः, पाद-दीधितिकर-द्युति-द्युतो रुग्विरोक-किरण-त्विषि-त्विषः, भा-प्रभा-वसु-गभस्ति-भानवो भा-मयूख-महसी छविर्विभा'' इति हैमः[2] । ''रश्मिर्घृणिप्रग्रहयोः'' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[3] । **'पा॰'** मते अश्धातोः मिप्रत्यये धातोरशादेशे च, यद्वा 'रश्-स्वने' धातोः मिप्रत्यये ''रश्मिः पुं॰ किरणे, अश्वादिदामनि च; पद्मे नपुं॰ ।'' ''किरणप्रग्रहौ रश्मी'' इत्यमरः[4] । अत्र प्रग्रहार्थः । तेषु **रश्मिषु** । **आदायेव** गृहीत्वेव । **निवर्तयामास**-पर्वतावलोकनात् परावर्तयामास ।।

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्-गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घेण तदीयेनाऽऽक्रन्दितेन आर्तसाधोर्नृपस्य नगेन्द्रसक्ता दृष्टिः रश्मिष्वादायेव निवर्तयामास निवर्तयाञ्चक्रे ।।

यथा सारथिः धावन्तमश्वं रश्मिभिराकृष्य निवर्तयति, तथैव सिंहाक्रमणेन गुहानिबद्धप्रतिशब्दत्वेनाऽतिदीर्घस्तस्याः क्रन्दनशब्दो राज्ञो दिलीपस्य पर्वतसक्तां दृष्टिं ततः परावर्तयामास, इति सरलार्थः ।।२८।।

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ।।२९।।

[स इति ।] धन्यतेऽर्यते धमति शब्दायते ज्याघातेन वेति 'रुद्यर्तिजनि-तनि-धनि-मनि-ग्रन्थि-पृ-तपि-त्रपि-वपि-यजि-प्रादि-वेपिभ्य उस्' ।।९९७।। इति 'उणादिश्रीसि॰' सूत्रेण 'धन्-धान्ये' इति सौत्राद्धातोः धम्धातोर्वा उस्प्रत्यये धनुः-चापम् । ''धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः कोदण्डं धन्व कार्मुकम्, द्रुणाऽऽसौ'' इति हैमः[5] । धनुरुकारान्तोऽपि भवति, तत्राऽपि 'धन्-धान्ये' इति सौत्राद्धातोः 'भृ-मृ-तृ-त्सरि-तनि-धन्यनि-मनि-मस्जि-शी-वटि-कटि-पटि-गडि-चञ्च्यसि-वसि-त्रपि-शृ-स्वृ-स्निहि-क्लिदि-कन्दीन्दि-विन्ध्य-न्धि-बन्ध्यणि-

१. अभि॰ चि॰ च॰ १२५२ ।
२. अभि॰ चि॰ द्वि॰ ९९-१०० ।
३. अनेकार्थसङ्ग्रहे-द्वि॰ ३२६ ।
४. अम॰ तृ॰ नानार्थवर्गे - २६१० ।
५. अभि॰ चि॰ तृ॰ ७७५ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोष्टि-कुन्थिभ्य उः' ॥७१६॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण उप्रत्यये "धनुः अस्त्रं, दानमानं च" । अत्र तूस्प्रत्ययान्तः । धनुर्धरतीति यौगिकत्वात् धनुर्धरः-धनुर्भृत् । **'पा०'** मते धनुधातोः उस्प्रत्यये धनुस् पुं० ।"प्रियालवृक्षे; धनुर्धरे त्रिलिङ्गः; चापे, मेषादितो नवमे राशौ च नपुं०" । धरतीति धृधातोरचप्रत्यये धरः धनुषो धरः धनुर्धरः । संज्ञायां धनुर्धारयतीति 'धारेर्धर्च' (५।१।११३॥) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण खप्रत्यये धारेर्धरादेशे च धनुर्धरः । **'पा०'** मते च संज्ञायां धनुर्धारयतीति 'संज्ञायां भृ-तृ-वृ-जि-धारि-सहि-तपि दमः' [३।२।४६॥] इति सूत्रेण णिजन्तधृधातोः खचि 'खचि ह्रस्वः' [६।४।९४॥] इति सूत्रेण च ह्रस्वे धनुर्धरः धानुष्के (तीरंदाज-निशानताकी-तीर फेंकनार) । "तूणी धनुर्भृद् धानुष्कः स्यात्" इति हैमः[1] । **धनुर्धरः**-कोदण्डधारी धनुष्मानिति यावत् । "धन्वी धनुष्मान् धानुष्को निषङ्ग्यस्त्री धनुर्धरः" इत्यमरः[2] ।

स दिलीपो राजा । पाट्यतीति ण्यन्तात् 'पट्-गतौ' धातोः 'मृदि-कन्दि-कुण्डि-मण्डि-मङ्गि-पटि-पाटि-शकि-केवृ-देवृ-कमि-यमि-शलि-कलि-पलि-गुध्वञ्चि -चञ्चि -चपि-वहि-दहि-कुहि-तृ-सृ-पिशि-तुसि-कुस्यानि -द्रमेरलः' ॥४६५॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेणाऽलप्रत्यये पाटलः वर्णः "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" [इत्यमरः[3]] इति तद्वत्याम् आपि पाटला । पाटलो वृक्षविशेषोऽपि । "पाटलिः पाटला" इति हैमः[4] । 'ताम्रपुष्पत्वाद्वा' इति **तद्वृत्तिः** । **'पा०'** मते तु पाटयतीति णिजन्तपट्धातोः कलच्प्रत्यये पाटलः पुं० । "श्वेतरक्तवर्णे, तद्वति त्रिलिङ्गः, पारुल इति ख्याते वृक्षे स्त्री०; तत्पुष्पे आशुधान्ये च नपुं०" आंसु (आशु) नाम्ना **मिथिलायां** प्रसिद्धं धान्यं भाद्रपदे मासि जातमशुद्धमिति कृत्वा देवपितृक्रियायां न व्यापार्यते। हेमन्ततौ जातं तच्छुद्धं व्यवह्रियते तुषसहितं तत् शालिसदृशम् । तस्यां **पाटलायां**-ईषद्रक्तवर्णायाम् । "श्वेतरक्तस्तु पाटलः" इत्यमरः[5] ।

गच्छन्त्याश्रयन्ति देवास्तामिति 'द्युगमिभ्यां डोः' ॥८६७॥ इति 'उणादि-श्रीसि०' सूत्रेण 'गम्लृं-गतौ' धातोः डिति ओप्रत्यये गौः-स्वर्गः स्त्री-पु० लिङ्गः ।

---

१. अभि० चि० तृ० ७७१ ।

२. अम० द्वि० क्षत्रियवर्गे - १६०५ ।

३. अम० प्र० धीवर्गे- ३११ ।

४. अभि० चि० च० ११४४ ।

५. अम० प्र० धीवर्गे - ३०७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"स्वर्गस्त्रिविष्टपं द्योदिवौ भुविस्तविषताविषौ नाकः, गौस्त्रिदिवमूर्ध्वलोकः सुरालयः" इति हैमः[१]। "फलोदयो मेरुपृष्ठं वासवावाससैरिकः। दिदिविः दीदिविः द्युश्च दिवं च स्वर्गवाचकाः" इति हैमशेषः[२]। स्वश्चाऽव्ययेषु। गच्छत्यस्मात्तम इति वा "गौः-किरणः पुंस्त्री०"। "रोचिरुस्त्ररुचिशोचिरंशुगो ज्योतिरर्चिरुपधृत्य-भीशवः, प्रग्रहः शुचि-मरीचि-दीप्तयो धाम-केतु-घृणि-रश्मिपृश्नयः, पाद-दीधिति-कर-द्युति-द्युतो रुग्विरोक-किरण-त्विषः; भाः प्रभा-वसु-गभस्ति-भानवो भा-मयूख-महसी छविर्विभा" इति हैमः[३]। गच्छतीति वा गौः-वाणी। "वाग् ब्राह्मी भारती, गौर्गी- र्वाणी भाषा सरस्वती; श्रुतदेवी" इति हैमः[४]। गच्छन्त्यस्यामिति वा गौः पृथ्वी, गोरूपधरत्वाद्वा गौः। "भूर्भूमिः पृथिवी पृथ्वी वसुधोर्वी वसुन्धरा, धात्री धरित्री धरणी विश्वा विश्वम्भरा धरा; क्षितिः क्षोणी क्षमाऽनन्ता ज्या कुर्वसुमती मही, गौर्गोत्रा भूतधात्री क्ष्मा गन्धमाताऽचलाऽवनिः; सर्वंसहा रत्नगर्भा जगती मेदिनी रसा, काश्यपी पर्वताधारा स्थिरेला रत्न-बीज-सूः' विपुला सागराच्चाग्रे स्युर्नेमीमेखलाम्बराः" इति हैमः[५]। "अथ पृथिवी महाकान्ता क्षान्ता मेर्वद्रिकर्णिका गोत्रकीला घनश्रेणी मध्यलोका जगद्वहा देहिनी केलिनी मौलिर्महास्थाली अम्बरस्थली" इति हैमशेषः[६]। गच्छतीति वा गौः-वृषभः। "अथ ऋषभो वृषभो वृषः; वाडवेयः सौरभेयो भद्रः शक्वर-शाक्वरौ, उक्षाऽनड्वान् ककुद्मान् गौर्बलीवर्दश्च शाङ्करः" इति हैमः[७]। गच्छतीति वा गौः -सुरभिः। "गौः सौरभेयी माहेयी माहा सुरभिरर्जुनी, उस्राऽघ्न्या रोहिणी शृङ्गिण्यनड्वाह्यनडुह्युषा; तम्पा निलिम्पिका तंवा" इति हैमः[८]। सा सुरभिर्वर्णैरनेकधा शबला धवला इत्यादिः। "सा तु वर्णैरनेकधा" इति हैमः[९] १।

गर्भवती सा प्रष्ठौही-२। "प्रष्ठौही गर्भिणी" इति हैमः[१०]। वन्ध्या सा वशा-३। "वन्ध्या वशा" इति हैमः[११]। वृषोपगा सा वेहद् गर्भोपघातिनी-४।

---

१. अभि० चि० द्वि० ८७।
२. अभि० चि० हैमरोषे - ३।
३. अभि० चि० द्वि० ९९-१००।
४. अभि० चि० द्वि० २४१।
५. अभि० चि० च० ९३५-३६-३७-३८।
६. अभि० चि० हैमशेषे १५७-५८।
७. अभि० चि० च० १२५६-५७
८. अभि० चि० च० १२६५-६६।
९. अभि० चि० च० १२६६।
१०. अभि० चि० च० १२६६।
११. अभि० चि० च० १२६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वेहद् वृषोपगा" इति हैमः[1] । "वेहद् गर्भोपघातिनी" इत्यमरश्च[2] । अपप्रसववती मृतवत्सा स्रवद्गर्भा साऽवतोका-५ । "अवतोका स्रवद्गर्भा" इति हैमः[3] । "मृतवत्सा स्रवद्गर्भा" इति नाममाला ।

अकालदुग्धा वृषेणाऽऽक्रान्ता च सा सन्धिनी गर्भग्रहणवती-६। "वृषाक्रान्ता सु सन्धिनी" इति हैमः[4] । "अदुग्धा दोहकाले तु सन्धिनी" इति **कात्यः** । "सन्धिन्यकालदुग्धा गौर्वृषाक्रान्ता च सन्धिनी" इति **शाश्वतः** । चिरप्रसूता प्रौढवत्सा सा बष्कयिणी-७ । "प्रौढवत्सा बष्कयिणी" इति हैमः[5] । प्रत्यग्रप्रसूतिको सा धेनुः-८ । "धेनुस्तु नवसूतिका" इति हैमः[6] । बहुप्रसूतिः सा परेष्टुं-९ । "परेष्टुर्बहुसूतिः स्यात्" इति हैमः[7] । एकशः प्रसूतिका गृष्टिः१० । "गृष्टिः सकृत्प्रसूतिका" इति हैमः[8] । प्रातर्गर्भग्रहणवती सा काल्या-११ । "प्रजने काल्योपसर्या" इति हैमः[9] । सुखेन दोहनीया सा सुव्रता-१२ । "सुखदोह्या तु सुव्रता इति हैमः[10] । दुःखेन दोहनीया सा करटा-१३ । "दुःखदोह्या तु करटा" इति हैमः[11] । बहुदुग्धवती सा[वञ्जुला] द्रोणदुधा-१४ । "द्रोणदुग्धा द्रोणदुघा" इति हैमः[12] । पुष्टस्तनवती सा पीनोघ्नी-१५ ।"पीनोघ्नी पीवरस्तनी" इति हैमः[13] । पीतदुग्धा सा धेनुष्या-१६ । "पीतदुग्धा तु धेनुष्या संस्थिता दुग्धबन्धके" इति हैमः[14] । सर्वासु गोषूत्तमा सा नैचिकी । "नैचिकी तूत्तमा गोषु" इति हैमः[15] । बालगर्भवती सा पलिक्नी । "पलिक्नी बालगर्भिणी" इति हैमः[16] ।

प्रतिवर्षं प्रसववती सा समांसमीना । "समांसमीना तु सा या प्रतिवर्षं विजायते" इति हैमः[17] । एवमादयोऽनेके भेदाः ।

---

१. अभि० चि० च० १२६६ ।
२. अम० द्वि० वैश्यवर्गे - १८४५ ।
३. अभि० चि० च० १२६७ ।
४. अभि० चि० च० १२६७ ।
५. अभि० चि० च० १२६७ ।
६. अभि०चि०च० १२६७ ।
७. अभि० चि० च० १२६८ ।
८. अभि० चि० च० १२६८ ।
९. अभि० चि० च० १२६८ ।
१०. अभि० चि० च० १२६८ ।
११. अभि० चि० च० १२६९ ।
१२. अभि० चि० च० १२६९ ।
१३. अभि० चि० च० १२६९ ।
१४. अभि० चि० च० १२७० ।
१५. अभि० चि० च० १२७० ।
१६. अभि० चि० च० १२७० ।
१७. अभि० चि० च० १२७१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र तु गोशब्देन इषद्रक्तवर्णा गृष्टिः वञ्जुला पीनोघ्नी नैचिकीत्यादिरूपा गौर्ग्राह्या । "गौरुदके दृशि स्वर्गे दिशि पशौ रश्मौ वज्रे भूमिविषौ गिरि" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[1] । दशस्वर्थेषु स्त्रीपुंसाः । **अन्ये** तु "वागादौ स्त्रियाम्, स्वर्गादौ पुंसि, पशौ द्वयोर्जलाक्ष्णोः क्लीबे" **इत्याहुः** । उदके यथा-'गावो वहन्ति विमलाः शरदि स्रवन्त्याम्' । दृशि यथा-'गोजलाद्रितकपोलतलास्ताः' । स्वर्गे यथा-'स गोपतिर्वज्रविघट्टनेन' । दिशि यथा-'गोभ्यः संभृतसद्वित्तः' । पशौ यथा-'गावश्चरन्ति कमलानि सकेसराणि' । रश्मौ यथा-['गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे, चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥] (कल्याणमन्दिरे) । वज्रे यथा-'गोघातेनैव शैलाः" । भूमौ यथा-[जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्(?)]। (रघौ) ॥ इषौ यथा-'गोभिः संभिन्नसन्नाहः' । गिरि यथा -[.....] ॥

गिरि-यथा-

आविष्कृताशेषपदार्थसार्था दोषानुषक्तं तिमिरं विधूय ।
गावः प्रथन्तेऽस्खलितप्रचारा यस्येह तं वीररविं प्रणम्य ॥१॥

इति **जिनेश्वरसूरयोऽष्टकवृत्तौ** ।

अत्र **वीर**पक्षे वाणी रविपक्षे च किरणः इति । **'पा०'** मते तु गच्छतीति 'गम्लृ--गतौ' धातोः डोप्रत्यये गौः पुं० । "वृषभे, स्वर्गे, किरणे, वज्रे, जले, पशौ, चन्द्रे, वायौ, सूर्ये, ऋषभनामौषधौ च, सौरभेय्याम्, दृष्टौ, बाणे, दिशि, मातरि, वाचि, भूमौ च स्त्री०" । अत्र तु सौरभेयी ।

अथ गोशब्दस्य गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या गति-क्रियावत्येव सुरभिर्वाच्योऽर्थस्स्यात्तथा च स्थितायामुपविष्टायां वा गमनाभाववत्यां गवि गोशब्दप्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत् । न । व्युत्पत्तिमात्रमेवैतद्गच्छतीति गौरिति, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अन्यथा गमनक्रियावति पुरुषेऽपि गोशब्दप्रवृत्तिः स्याद्, न च सा भवतीति प्रवृत्तिनिमित्तबलादेव वाच्ये वाचकप्रवृत्तिः । प्रवृत्तिनिमित्तत्वं च "वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वम्" । तस्यां **गवि**-कामे(म)धेनौ ।

तस्थौ इति 'ष्ठां-गति-निवृत्तौ' धातोः 'तत्र क्वसुकानौ तद्वत् (५।२।२॥)

---

१. अनेकार्थसङ्ग्रहे प्र० ६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति '**श्रीसि०**'सूत्रेण 'क्रसुश्च' [३।२।१०७॥] इति '**पा०**' सूत्रेण च क्रसौ 'घसेकस्वरातः क्रसोः' (४।२।८२॥) इति ['**श्रीसि०**' सूत्रेण] 'वस्वेकाजादघसाम्' [।७।२।६७॥] इति '**पा०**' सूत्रेण च आदेरिटि क्रसुप्रत्यये तस्थिवान्, तं **तस्थिवांसम्**-स्थितम् ।

केसराः स्कन्धसटाः सन्त्यस्येति केसरशब्दादिनि केसरी-सिंहाः । "सिंहः कण्ठीरवो हरिः, हर्यक्षः केसरि(री)भारिः पञ्चास्यो नखरायुधः, महानादः पञ्चशिखः पारीन्द्रः पत्यरी मृगात्; श्वेतपिङ्गोऽपि" इति हैमः[१] । सिंहे तु स्यात् "पलङ्कषः शैलाटो वनराजो नभःक्रान्तो गणेश्वरः शृङ्गोष्णीषो रक्तजिह्वो व्यादीर्णास्यः सुगन्धिकः" इति हैमशेषेः[२] । "केसरी पुं० सिंहे, अश्वे, पुंनागवृक्षे, नागकेसर-वृक्षे, बीजकपूरवृक्षे, हनुमत्पितरि, वानरभेदे, च" । तं केसरिणं -सिंहम् ।

सनति मृगादीन् सनोति वा सुखमिति 'कृ-वा-पा-जि-स्विदि-साध्यशौ-दृ-स्ना-सनि-जा-निरहीण्भ्य उण' ॥१॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'षण्-भक्तौ''षणूयी-दाने' वेति धातोः उण्प्रत्यये, '**पा०**' मते ञुंप्रत्यये सानु-पर्वतैकदेशः। "स्नुः प्रस्थं सानुः" इति हैमः[३] । पुंक्लीबलिङ्गः । "पर्वतस्थे समभूमिदेशे, प्रस्थे, वने, वातसमूहे, पथि, अग्रे, कोविदे, अर्के, पल्लवे च" । अत्र पर्वतस्थसमभूमिप्रदेशार्थः । सानूनि सानवो वा सन्त्यस्येति सानुशब्दात् तदस्याऽस्तीति मतुपि सानुमान् पर्वतः । "शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान्, ग्रावा पर्वतभूध्रभूधरधराहार्या नगः" इति हैमः[४] । "गिरौ प(प्र)पाती कुट्टम(ट्टार) उर्वङ्गः कन्दराकरः" इति हैमशेषेः[५] । तस्य **सानुमतः** - अद्रेः ।

दधाति पीतत्वमिति 'कृ-सि-कम्यमि-गमि-तनि-मनि-जन्यसि-मसि-सच्यवि-भा-धा-गा-ग्ला-म्ला-हनि-हा-या-हि-क्रुशि-पूभ्यस्तुन्' ॥४(७)७३॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'डुधाङ्क्-धारणे च' इति धातोः तुन्प्रत्यये धातुः-

१. अभि० चि० च० १२८३-८४-८५ ।
२. अभि० चि० हैमशेषे - १८४-८५ ।
३. अभि० चि० च ० १०३५ ।
४. अभि० चि० च० १०२७ ।
५. अभि० चि० हैमशेषे - १५८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोहादिः रसादिः शब्दप्रकृतिश्च । "धातुस्तु गैरिकम्" इति हैमः ।

धातू रसादौ श्लेष्मादौ भ्वादिग्रावविकारयोः ।
महाभूतेषु लोहेषु शब्दादाविन्द्रियास्थनि ॥१७१॥

इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[२] ।

लोहानि 'स्वर्णादीनि' यदाह |९ e on H 10 39 | इन्द्रियं 'चक्षुरादि शुक्रं वा' । अस्थि पञ्चमो धातुः । रसादौ भ्वादौ श्लेष्मादौ लोहेषु च यथा-

अभ्यस्तरूपसिद्धिः सुविदितधातूपसर्गविनिपातः ।
योगी वैयाकरणो जयति भिषक्लार्तिकेन्द्रो वा (वार्तिकेन्द्रो वा)
(yys. 4) ॥

ग्रावविकारे 'ME-1021' । शब्दादौ 'न धातूनपि गृह्णीया-दुन्मनीभावमागतः' । इन्द्रिये 'धातुपाटवमवेक्ष्य तिष्ठतः' । अस्थ्नि "यस्येह भज्यते धातुर्भवेत्तस्यैव वेदना' । धातुः पुं० ।

'धारणाद्धातवस्ते स्युर्वातपित्तकफास्त्रयः ॥' इत्युक्तेषु वातादिषु,
'रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' ॥ इत्युक्तेषु रसादिषु,
'सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला ।
गैरिकाञ्जनकासीससीसलोहं सहिंगुलम् ॥
गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसंभवाः' ।

इत्युक्तेषु स्वर्णादिषु,

'हेमताराररनागाश्च ताम्ररङ्गे च तीक्ष्णकम् ।
कांस्यकं कान्तलोहं च धातवो नव कीर्तिताः' ॥

इत्युक्तेषु हेमादिषु नवसु,

'हिरण्यं रजतं कांस्यं ताम्रं सीसकमेव च ।
रङ्गमायसं रैत्यं च धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः' ॥

---

१. अभि० चि० च० १०३६ ।
२. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० १७१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्युक्तेषु अष्टसु,

'सुवर्णं रजतं ताम्रं लौहं कुप्यं च पारदम् ।
रङ्गं च सीसकं चैव इत्यष्टौ देवसंभवाः' ॥

इत्युक्तेषु अष्टसु वस्तुषु ।

लोकेषु सर्वसाधारणत्वात्परमेश्वरे 'स एष चिद्धातुः' इति **श्रुतिः**, **व्याकरणोक्ते**-गणपठिते क्रियावाचके भूप्रभृतौ, शब्दभेदे च । इह तु गौरिकाद्यर्थः । धातोर्विकार इति धातुशब्दात् विकारार्थे मयटि 'दोरप्राणिनः' (६।२।४९।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण '**पा०**' मते ते (तु) 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' [४।३।१४४।।] इति सूत्रेण च 'अणमेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्' (२।४।२०।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' [४।१।१५।।] इति '**पा०**' सूत्रेण च ङीपि धातुमयी । तस्यां **धातुमय्यां**-गैरिकादिधातुप्रचुरायाम् ।

पर्वतमधिरूढा ऊर्ध्वभूमिरिति 'उपत्यकाधित्यके' (।७।१।१३१।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेणाऽधित्यकेति निपातः । "अधित्यकोर्ध्वभूमिः स्यात्" इति हैमः[1] । '**पा०**' मते 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' [५।२।३४।।] इति सूत्रेण त्यकन्प्रत्यये अधित्यका । "उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरुर्ध्वमधित्यका" इत्यमरः[2] । प्रफुल्लतीति 'फुल्ल्-विकासे' भ्वादिः पर० अक० सेट्धातोः अप्रत्यये, 'पा०' मते च पचाद्यचीति अच्प्रत्यये **प्रफुल्लम्**-विकसितम् । "प्रबुद्धोज्जृम्भ-फुल्लानि व्याकोशं विकचं स्मितम्; उन्मिषितं विकसितं दलितं स्फुटितं स्फुटम्, प्रफुल्लोत्फुल्ल-सम्फुल्लोच्छ्वसितानि विजृम्भितम्; स्मेरं विनिद्रमुन्निद्रविमुद्रहसितानि च" इति हैमः[3] । 'ञिफला-विशरणे' इति धातोः कर्तरि क्ते 'उत्पस्यातः' [७।४।८८।।] इति '**पा०**' सूत्रेण उकारादेशे प्रफलतीति प्रफुल्लम् ।

रुणद्धि व्रणमिति रोध्रः, लत्वे लोध्रः । "लोध्रे तु गालवो रोध्र-तिल्व-शावर-मार्जनाः" इति हैमः[4] । '**पा०**' मते तु रुध्धातोः रप्रत्यये रस्य लत्वे च लोध्रः । द्रुं शाखाऽस्त्यस्येति 'द्युद्रुभ्याम्' ॥ ७४४॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'द्रु-गतौ' धातोः डिति उप्रत्यये द्रुः-वृक्षशाखा-वृक्षश्च । "वृक्षोऽगः शिखरी च शाखिफलदावद्रिर्हरिद्रुर्द्रुमो, जीर्णो द्रुर्विटपी कुठः क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः,

---

१. अभि० चि० च० १०३५ ।
२. अम० द्वि० शैलवर्गे - ६४७ ।
३. अभि० चि० च० ११२७-२८-२९ ।
४. अभि० चि० च० ११५९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्द्यावर्त-करालिकौ तरुवसू पर्णी पुलाक्यंह्रिपः, सालानोकहगच्छपादपनगा रुक्षागमौ पुष्पदः" इति हैमः[1] । वृक्षे तु "आरोहकः स्कन्धी सीमिको हरितच्छदः उरुः जन्तुः वह्निभूश्च" इति हैमशेषः[2] । लोध्र इति, यद्वा 'रोहः शिर' इतिवदभेदषष्ठ्यां लोध्रस्य द्रुमः लोध्रद्रुमः, तं **लोध्रद्रुमं** लोध्राख्यं द्रुममिव । **ददर्श**-अवलोकयामास ॥

वाच्यपरिवर्तनं त्वेवम्-धनुर्धरेण तेन (राज्ञा) पाटलायां गवि तस्थिवान् केसरी धातुमय्याम् अधित्यकायां सानुमतः प्रफुल्लः लोध्रद्रुम इव ददृशे ॥

धनुर्धरः स दिलीपः रक्तवर्णायां गवि स्थितं सिंहं गैरिकादिधातुरक्तवर्णायां पर्वतोपरितनभूमौ विकसितं लोध्राख्यं वृक्षमिव अवलोकयामास इत्यर्थः, इति सरलार्थः ॥२९॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

तत इति । तस्मादिति तच्छब्दात्पञ्चम्यर्थे 'किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित् तस्' (७।२।८९।।) इति '**श्रीसि०**' सूत्रेण तस्प्रत्यये 'पञ्चम्यास्तसिल्' [५।३।७।।] इति '**पा०**' सूत्रेण च तसिल्प्रत्यये ततः । **ततः** -सिंहदर्शनानन्तरम् । मृग्यन्ते व्याधैरिति 'मृग्-अन्वेषणे याचने च' अदादिः चुरादिः आ० सक० सेट् अस्ति, 'मृग्-अन्वेषणे' दिवादिः पर० सक० सेट् अस्ति च । ततः कप्रत्यये मृगाः -हरिणाः । "मृगः कुरङ्गः सारङ्गो वातायुर्हरिणावपि" इति हैमः[3] । 'मृगे तु अजिनयोनिः स्यात्' इति हैमशेषः[4] । मृगो गजजातिभेदः । "भद्रो मन्दो मृगो मिश्रश्चतस्रो गजजातयः" इति हैमः[5] । 'मृगो मृग इव हीनसत्त्वत्वा'दिति **टीका** । मृगो नक्षत्रभेदे । "मृगशीर्षं मृगशिरो मार्गश्चान्द्रमसं मृगः" इति हैमः[6] । षोडश-जिनपतेः **श्रीशान्तिनाथस्य** भगवतो लाञ्छनं मृगः । "मृगः पशुमात्रे, हरिणे, गजभेदे, अश्विन्यवधिके पञ्चमे नक्षत्रे, मृग अदादिचुरादिः भावे अच्, अन्वेषणे याचने यज्ञभेदे च अच्, मृगमदे मकरराशौ च पुं०" । अत्र हरिणः पशुमात्रत्वात् । मृगाणामिन्द्रः मृगः इन्द्र इव वा मृगेन्द्रः । गमिष्यतीति गामी । मृगेन्द्रं गामी **मृगेन्द्रगामी** । यद्वा मृगेन्द्र इव गच्छतीति 'कर्तुर्णिन्' (५।१।१५३।।) इति '**श्रीसि०**'

१. अभि० चि० च० १११४ ।
२. अभि० चि० हैमशेषे-१७३-१७४ ।
३. अभि० चि० च० १२९३ ।
४. अभि० चि० हैमशेषे-१८६ ।
५. अभि० चि० च० १२१८ ।
६. अभि० चि० द्वि० १०९ ।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

सूत्रेण, 'पा०' [मते] 'कर्तर्युपमाने' [३।२।७९॥] इति **'पा०'** सूत्रेण च णिनि, मृगेन्द्रे गामी सिंहगामी ।

शरणे साधुरिति 'तत्र साधौ' (।७।१।१५॥) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण 'तत्र साधुः' [४।४।९८॥] इति **'पा०'** सूत्रेण च यत्प्रत्यये शरण्यः । शीर्यते शीताद्यनेनेति शृधातोः ल्युटि शरणम्-गृहम् । "गेहं तु गृहं वेश्म निकेतनम्; मन्दिरं सदनं सद्म निकाय्यो भवनं कुटः, आलयो निलयः शाला सभोदवसितं कुलम्; धिष्ण्यमावसथः स्थानं पस्त्यं संस्त्याय आश्रयः, ओको निवास आवासो वसतिः शरणं क्षयः, धामाऽगारं निशान्तं च" इति हैमः[1] । "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः[2] । "शरणं रक्षणे गृहे" इति **यादवः** । शरणं न० । "गृहे, रक्षके, रक्षणे, वधे, घातके च; प्रसारण्यां स्त्री०; आप्-टाप् वा" । अत्र तु रक्षणम् । शरणे साधुरिति 'तत्र साधौ' इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण शरणशब्दात् यप्रत्यये 'तत्र साधुः' इति **'पा०'** सूत्रेण च यत्प्रत्यये **शरण्यः** । शृ-अन्यश्च । "शरणागतत्राणकरणयोग्ये, दुर्गायां स्त्री०" ।

प्रगता सभा अत्रेति प्रसभम्-हठः । "बलात्कारस्तु प्रसभं हठः" इति हैमः[3] । सभया हि युक्तायुक्तविचारो लक्ष्यते । क्लीबलिङ्गोऽयमिति वृत्तिः । "प्रसभोऽस्त्री बलात्कारः" इति **वैजयन्ती** पुंस्यप्याह । **अन्ये** तु "प्रसभं त्रिलिङ्गः" । प्रगता सभा सभाधिकारो यस्मात् बलात्कारे । उद्ध्रियन्ते स्मेति उत्पूर्वात् हृधातोः धृधातोर्वा कर्मणि क्ते उद्धृताः उन्मीलिताः । "उन्मूलितमाबर्हितं स्यादुत्पाटितमुद्धृतम्" इति हैमः[4] । "उद्धृतत्रि० उत्क्षिप्तो(प्ते), भुक्तोज्झितो(ते), कृतोद्धारो(रे), पृथक्कृते, उच्छेदिते च" । अत्र तु उत्क्षिप्तार्थः । इयर्तीति 'स्वरेभ्य इः' ॥ ६०६॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'ऋंक्-गतौ' धातोः इप्रत्यये, **'पा०'** मते इत्प्रत्यये च अरिः शत्रुः । "शत्रौ प्रतिपक्षः परो रिपुः, शात्रवः प्रत्यवस्थाता प्रत्यनीकोऽभियात्यरी; दस्युः सपत्नोऽसहनो विपक्षो द्वेषी द्विषन् वैर्यहितो जिघांसुः, दुर्हृत् परेः पन्थक-पन्थिनौ द्विट् प्रत्यर्थ्यमित्रावभिमात्यराती" इति हैमः[5] । अराः

---

१. अभि० चि० च० ९८९-९०-९१-९२ ।

२. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २४४० ।

३. अभि० चि० तृ० ८०४ ।

४. अभि० चि० ष० १४८० ।

५. अभि० चि० तृ० ७२८-२९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्त्यस्मिन्निति वाऽरिः-चक्रम् । "रथाङ्गं रथ(क्ष)पादोऽरि चक्रम्" इति हैमः[1] । "अरिः पुं० शत्रौ, रथाङ्गे, चक्रे, विट्खदिरे, षट्सु कामक्रोधादिषु, तत्सङ्ख्या-साम्यात् षट्सङ्ख्यायाम्, ज्योतिष्प्रसिद्धे लग्नावधिके षष्ठस्थाने, ईश्वरे (शिवे), तन्त्रोक्तमन्त्रभेदे, राज्ञो विषयान्तरस्थिते नृपतौ, प्रेरके त्रिलिङ्गः" । अत्र तु शत्रुः । प्रसभेन बलात्कारेण उद्धृता-उन्मूलिता अरयः शत्रवो येन सः **प्रसभोद्धृतारिः** ।

नयतीति 'नियो डित्' ॥८५४ ॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'णींग्-प्रापणे' धातोः डिति ऋप्रत्यये, '**पा०**' मते च डिति ऋन्प्रत्यये ना-पुरुषः पुं० । "मर्त्यः पञ्चजनो भूस्पृक् पुरुषः पूरुषो नरः, मनुष्यो मनुषो ना विद् मनुजो मानवः पुमान्" इति हैमः[2] । "नृ पुं० मनुष्ये, पुरुषे च, जातौ ङीपि नारी" । पातीति 'पातेर्वा' ॥६५९॥ इति 'उणादिश्रीसि०' सूत्रेण 'पांक्-रक्षणे' धातोः किदति प्रत्यये '**पा०**' मते च डति प्रत्यये "पतिः भर्ता, रक्षिता, प्रभुश्च" । "अधिपस्त्वीशो नेता परिवृढोऽधिभूः, पतीन्द्रस्वामिनाथार्याः प्रभुर्भर्त्तेश्वरो विभुः, ईशितेनो नायकश्च" इति हैमः[3] । पतिः वरः । "प्रेयस्याद्याः पुंसि पत्यौ भर्त्ता सेक्ता पतिर्वरः, विवोढा रमणो भोक्ता रुच्यो वरयिता धवः" इति हैमः[4] । "पतिः पुं०' भर्तरि, मूले, अधिपतौ त्रिलिङ्गः, स्त्रियां वा ङीप्" नृणां पतिः "नृपतिः कुबेरे, राजनि च" । अत्र राजार्थः । **नृपतिः**-राजा, दिलीपः ।

जायते स्मेति जातः । 'जन्-प्रदुर्भावे'धातोः क्तप्रत्यये "जातं-समूहः न० जातम्, त्रिलिङ्गः उत्पन्नम्" । "सङ्घाते प्रकरौघ-वार-निकर-व्यूहाः समूहश्चयः सन्दोहः समुदाय-राशि-विसर-व्राताः कलापो व्रजः कूटं मण्डल-चक्रवाल-पटल-स्तोमा गणः पेटकं वृन्दं चक्र-कदम्बके समुदयः पुञ्जोत्करौ संहतिः, समवायो निकुरम्बं जालं निवह-सञ्चयौ जातम्" इति हैमः[5] । "जातं जात्योघजनिषु" इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः[6] । जातिः -सामान्यं यथा 'रत्नं सुजातं

१. अभि० चि० तृ० ७५५ ।
२. अभि० चि० तृ० ३३७ ।
३. अभि० चि० तृ० ३५८-५९ ।
४. अभि० चि० तृ० ५१६-१७ ।
५. अभि० चि० ष० १४११-१२ ।
६. अनेकार्थसङ्ग्रहे द्वि० १६६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कनकावदातम्' । ओघे यथा 'निःशेषविश्राणितकोशजातम्' । जनिर्जन्म । संपन्नेऽपि द्वयोर्यथा 'जाते पुत्रस्य जाते समजनि वनिता वल्लभा भूमिभर्तुः' । पुत्रेऽपीति **मङ्खः** । यथा-'जातलक्ष्मणपवित्रितं त्वया' इति **तद्वृत्तिः** । "जात नपुं० समूहे, व्यक्ते, जन्मनि च; उत्पन्ने प्रशस्ते च त्रिलिङ्गः" । अत्र तूत्पन्नार्थः । अभिपूर्वात् सञ्ज्धातोर्घञि अभिसञ्जनम् । "अभिषङ्गः पुं० पराभवे, आक्रोशे, शपथे, व्यसने च" । "अभिषङ्गं जडं विजज्ञिवान्" इत्यग्रे **रघुः** । जातः अभिषङ्गः पराभवो यस्य स **जाताभिषङ्गः**-जातपराभवः सः । "अभिषङ्गः पराभवे" इत्यमरः[१] ।

वधमर्हतीति 'दण्डादेर्यः' ।६।४।१७८।। इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण 'दण्डादिभ्य(भ्यो) [यत्' ।५।१।६६।।] इति **'पा०'** सूत्रेण च वधशब्दात् यप्रत्यये वध्यः, तस्य **वध्यस्य** वधार्हस्य-मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रः, तस्य **मृगेन्द्रस्य**-सिंहस्य । हननमिति 'हनो वा वध् च' (५।३।४६।।) इति **'श्रीसि०'** सूत्रेण हन्धातोः अल्प्रत्यये वधादेशे च वधः-व्यापादनम् । "व्यापादनं विशरणं प्रमयः प्रमापणं निर्ग्रन्थनं प्रमथनं कदनं निबर्हणम्, निस्तर्हणं विशसनं क्षणनं परासनं प्रोज्जासनं प्रशमनं प्रतिघातनं वधः; प्रवासनोद्वासनघातनिर्वासनानि संज्ञप्ति-निशुम्भहिंसाः, निर्वापणालम्भनिषूदनानि निर्यातनोन्मन्यसमापनानि; अपासनं वर्जनमारपिञ्जा निष्कारणक्राथ विशारणानि" इति हैमः[२] । "वधो हिंसकहिंसयोः" इत्यनेकार्थ-सङ्ग्रहः[३] । तस्मै **वधाय**-हिंसायै ।

जैनमते "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" । मुनीनां सा सर्वतो मनोवाक्कायैः करणकारणानुमतिभिः सर्वथा त्रसस्थावराणां सर्वेषामपि त्याज्या, अत एव तेषां विंशतिविंशोपकरूपाऽहिंसा । गृहस्थानां तु देशतः सा, अत एव तेषां सपादविंशोपकलक्षणाऽहिंसा । यथा हिंसाहिंसास्वरूपं **जैनमते** तथा न **बौद्धमते वेदान्त्यादिमते** च । यथा च ते आहुः-

प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा ।
प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ।। इति **बौद्धाः** ।

---

१. अम० तृ० नानार्थवर्गे - २३८२ ।
२. अभि० चि० तृ० ३७०-७१-७२ ।
३. अनेकार्थसंङ्ग्रहे द्वि० २४३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुरप्याह-

यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥१॥

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः ॥२॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥३॥

सर्वमेतदसमञ्जसम्, 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यस्यैव सर्वैरप्युद्घोषितत्वात् । मांसस्याऽपि हिंसामन्तरेण नोपपत्तिः, अतो मांसभक्षकोऽपि हिंसक एव । यत उक्तम्-

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥१॥

तथा च-

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नाऽत्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥१॥

या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥२॥ इति ।

मांसभक्षणस्वारसिकत्वेन यत्तैरुक्तम्-

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥

अस्य श्लोकस्य व्याख्यानं **केचिदेवं** कुर्वन्ति-यज्ञे मांसभक्षणकरणेन, सौत्रामणियज्ञे मद्यपानकरणेन, ऋतुसमये धर्मपत्नीसमागमनेन दोषो नाऽस्ति, प्राणिनां प्रवृत्तिरेवैषेति कृत्वा, तथाऽपि निवृत्तेर्महाफलवत्त्वम् । अयं भावः -यज्ञ-सौत्रामणियज्ञ-ऋतुसमयातिरिक्ते सर्वत्राऽपि स्थले दोषः ।

केचित्त्वेवं व्याख्यान्ति-यज्ञे उच्छिष्टमांसभक्षणेन, सौत्रामणियागे मद्यपानेन, ऋतुं विनाऽपि स्वस्त्रियं प्रति गमनेन दोषो नाऽस्ति, तथाऽपि तन्निवृत्तेः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्पुण्यम् । यज्ञेऽपि मांसभक्षणकरणेन सौत्रामणियागेऽपि सुरापानाकरणेन ऋतुं विना स्वस्त्रियं प्रत्यप्यगमनेन महत्फलमिति तात्पर्यम् । एवं बहुविधानि तद्व्याख्यानान्युपलभ्यन्ते, न तानि समीचीनानि । सम्यग्दृष्टिस्तु मिथ्यावाक्यमपि तत् सम्यक् परिणमय्यैवं व्याख्याति—भूतानामनादिमिथ्यावासनाग्रस्तप्रवृत्तिमत्त्वाद्यद्यपि प्रवृत्तिर्भवति, तथाऽपि अकारप्रश्लेषात् मांसभक्षणेऽदोषो न, किन्तु द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं दृढयतः इति दोष एव । एवं मद्येऽदोषो न, किन्तु दोष एव निवृत्तेर्महाफलवत्त्वेन वर्णितत्वात्प्रवृत्तेर्दोषवत्त्वं सुज्ञानमेवेति अकारप्रश्लेषेण व्याख्यानं युक्तम् । 'निवृत्तिस्तु महाफला' इत्यस्य तु यथाश्रुतमेवाऽर्थः । मांसशब्दार्थोऽपि मांसभक्षणं निषेधयति । तथा चाऽऽह–

मां स भक्षयित्वाऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ इति ।

एवमेव **श्रुतिवचना**न्यप्यसमञ्जसानि । "वायव्यं पशुमालभेत भूतिकामः, स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" इति **पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्योद्धृतश्रुतिवाक्यम्** । एवं बहुशो वेदे सर्वत्र स्थाने स्थाने हिंसाप्रतिपादकानि वचांसि श्रूयन्ते ।

ननु कथं वेदात्मके शास्त्रे एवं प्राणिव्यापादनस्वरूपं श्रूयते इति चेत् । प्राचीनानामहिंसाप्रधानानां **भरत**प्रणीतानामार्यवेदानां लोपे मांसलुब्धर्ष्यादिभिस्तन्नाम्नैव तस्य प्रणीतत्वात् । संभाव्यते चैतत् यत् अत एव '**श्रुति**'रिति तस्य नाम । श्रुतिशब्दः श्रवणश्रुतिरिति शब्दशक्तिबलादेव ज्ञापयति । पूर्वमार्या अहिंसापरायणास्तत्तद् हिंसासूचकं वचोऽभिगम्य तान्प्रपच्छुर्यदुत 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इति सर्वजनविदितमहावाक्यविरोधिवाक्यानि हिंसात्मकानि उपदिश्यन्ते तत्र किं प्रमाणम् ? तदा ते उत्तरदानाक्षमा ऊचुः–"अस्माभिरेतच्छ्रुतमेतच्छ्रुतमतस्तस्य श्रुतिरिति नाम संवृत्तम्" । कथं तत्प्रमाणीक्रियेत ?

अथाऽस्त्वेतत् । किन्तु मन्वादिभिस्तु मांसभक्षणबहुलां प्रजामुपलभ्य तां नियमितुमेवमुक्तं यद्, 'मांसं चेत् भक्षयतु तदा यज्ञ एव नियुक्तीभूय नेतरथा' इति नियमं सूचयति । तदप्यसाम्प्रतम् । मांसभक्षणाकरणे प्रत्यवायस्य 'नियुक्त'स्त्वित्यादिवाक्येनाऽप्रतिपादनान्न **मनुव**चनानि निषेधैदम्पर्याणि किन्तु मांसभक्षणप्रवर्तकानि । तद्वचनानामपि **स्मृत्य**भिधात्वेन प्रमाणाभाववन्त्येव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दशक्तिबलादेव नाङ्गीकारार्हाणि च यत्, तत्राऽपि पूर्ववत् आर्याणां प्रश्ने **मन्वादि**रेवमाचख्यौ यद् 'एवं मे स्मृतम् एवं मे स्मृतम्' इति । ततः सर्वत्र **स्मृति**नाम्ना तत्प्रसिद्धिः ।

किञ्च हिंसाविधीनुक्त्वैव न ते विरताः, अपि तु पशुमारणप्रकारानपि **अधिकरणरत्नमालादिषू**क्तवन्तो यत् सदयानामार्याणां श्रवणेऽप्यनर्हाणि तद्वचनानि । 'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' इत्येतन्महावाक्यमादौ यदुक्तम्, तदपि दयाविरोधिवचनश्रवणावगणयन्तीमार्यप्रजामुपलभ्य तस्या विप्रलम्भनाय, यद्वयमपि 'अहिंसां प्रथमतयैवमनुमहे' इति विप्रलम्भवचनमिषात् भद्रस्वरूपां दयैकरसिकां करणानुरञ्जितमानसामार्यप्रजां प्रवञ्चयितुमिव । यथा कश्चिदुपरिभागेन शुभत्वेनेक्ष्यमाणमाधारस्वरूपं प्रदर्श्य धूर्तयति भद्रप्रकृतीन् ।

किञ्च शुभमङ्गलाचरणाधो न कोऽपि मृत्यादिशोकोदन्तं ल(लि)खति अपि तु विवाहादिमाङ्गलिकं, एवं यदीदं वास्तवं 'मा हिंस्यात्' इति मङ्गलाचरणमभविष्यत्, तदा न श्रुतिस्मृतिषु दारुणहिंसाप्रचुरा यज्ञादिविचारा आगमिष्यन् । अत एव पूज्यपादाः कलिकालसर्वज्ञबिरुदधारिणः **श्री हेमचन्द्रसूरि**भगवन्तो यथातथमुक्तवन्तः

'वरं वराकश्चार्वाको योऽसौ प्रकटनास्तिकः ।
छन्नरक्षो न **जैमिनिः**' ।

किञ्च यदि 'यज्ञे हताः पशव उत्तमां गतिमाप्नुवन्ती'ति चेद् युष्मत्सिद्धान्तस्तदा स्वपितृपितामहमातृमातामहादीन् हत्वैव यज्ञं विधत्त । किं ते सद्गतिमाप्नुवीरन् तत्तेऽनभीष्टे न तेषु ते भक्तिः । अपि च यज्ञे हता घातकाश्च यदि स्वर्गं प्राप्नुयुस्तदा नरके कैः गम्यते । आकर्णयताऽवधानतयाऽस्माकं जैनानामात्मैव दयारसानुस्यूत इति येषु केषुचिदन्यदृशां शास्त्रेषु दयाप्रतिपादकवचांसि मांसनिषेधपराणि हिंसामययज्ञान् प्रति आर्याणां तिरस्करणीयता दर्शकानि वचनानि तानि कतिचिदुद्ध्रियन्ते ।

महाभारतानुशासनपर्वणि-

न हि प्राणात्प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद्दयां नरः कुर्यात् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ इति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्तपर्वण्यपि-

अहिंसा सर्वजीवानां सर्वज्ञैः परिभाषिता ।
इदं हि मूलं धर्मस्य शेषस्तस्याऽस्ति विस्तरः ॥१॥
यथा मम प्रियाः प्राणास्तथा तस्याऽपि देहिनाम् ।
इति मत्वा प्रयत्नेन त्याज्यः प्राणिवधो बुधैः ॥२॥

भागवतचतुर्थस्कन्धपञ्चविंशाध्ययने यथा हि पूर्वं बर्हिराजेन स्वेच्छापूर्तये वेदानुसरणेन सहस्रशः पशुवधयुता यज्ञा विहितास्तथा पुनः स न कुर्यादिति नारदस्तमुपदिदेश ।

भो भोः प्रजापते राजन् ! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे ।
संज्ञाऽपितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः ॥१॥
एते त्वां संप्रतीक्षन्तो स्मरन्तो वैशसं तव ।
सम्परेतमयःकूटैः छिन्दन्त्युत्कटमन्यवः ॥२॥

शिवपुराणादिष्वपि एवमेव यज्ञीयाया अपि हिंसाया मांसभक्षणस्य च निषेधो दरीदृश्यते । ग्रन्थगौरवभयान्नाऽत्र लिखितः । विशेषजिज्ञासुना तत एवाऽवसेयम् ।

यवनशास्त्रेऽपि कुत्र कुत्रचिज्जीवहिंसानिषेधः प्रतिपाद्यते । तथा हि **जरथोस्तिधर्म**मान्ये **शाहनामा** इति विदिते ग्रन्थे एवं प्रतिपादितम्-'अस्माकं जरथोस्तिधर्म एवं पावनः (नेक) यत्पशून् हत्वा न तद्भक्षणं विधेयम्, न च तन्मृगया कर्तव्या' । तथा च तद्वचांसि तदीयशब्दैः -

"नीस्त झंद खुरोने जानवरजू, चनीन अस्तदीने झरदूस्तनेक" ।

पारसिकानां '**इजस्ने**' नामकधर्मपुस्तकस्य द्वात्रिंशे त्रयस्त्रिंशे **चेहा**नामके विभागे **अवस्ता**भिधया तदीयभाषया प्रोक्तम्-

"मजदाओ अकामरो दईओ गेओइ । मरेंदान ओरु ओखश ओखती जीओ तुम । अएरीअ मनश् च । नदेंनतो गेओश् चा वाशतराद् अवेशतम । मन तू ईअशते वीशपे म जेशतेम शराशेम जवीया अउ अंबानो" ।

अस्याऽर्थः -'ये चतुष्पदानां पशूनां मारणे सन्तुष्टं जीवनं मन्यन्ते, ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा तान् छित्त्वा भक्षणायाऽऽदिशति(न्ति) ते **होरमजदे**नाम्ना पारसिकपरमेश्वरेण वध्या ' इति कथितम् । यद्वा ते दुष्टा दूरीकर्तव्या इति कथितम् । 'ये जनाः पवित्र(नेक)निर्देशानवगणय्य पशून् छित्त्वा भक्षणं विधास्याम इति दुष्टविचारणया चतुष्पदान् तृणजलादिभिः पोषयन्ति ते जनाः **क्यामत** इति नाम्ना विदिते तदीयमान्ये पुण्यपापन्यायदिवसे पापान् मोचयितुं **अशोमरदो**नामकं तदीयपरमेश्वरं प्रार्थयिष्यन्ते, न तु प्रार्थना स्वीकरिष्यते' ।

अन्यदपि **जमीयादयस्त**नामकस्याऽष्टपञ्चाशे आलापे(फकरो) **जरथोस्त**-प्रभृतिषु तदीयधर्मपुस्तकेषु च पशुहिंसाया मांसभक्षणस्य च दृढतया निषेधो वरीवर्त्ति । किञ्च ते **पारसिकाः** स्वकीयं पूज्यं (परवरदीगारं) 'पशुपालकः पशुप्रेमी'त्यादिसंज्ञयाऽद्याऽपि स्मरन्तः श्रूयन्ते । **फुट्स एण्ड फेरीनेशीया**नामके पुस्तकेऽपि लिखितमस्ति यत्, '**पारसिका**नां प्राचीना धर्मगुरुवः सदैव फलपुष्पादीन् भक्षयन्तौ(न्तो) बभूवुः' ।

प्लेनीनामकः प्रसिद्धस्तत्त्ववेत्ता स्वकीये एकादशे पुस्तके लिखति यत्, '**जरथोस्तः अलबरुझपर्वतगुहायां** (खुदाताला) परमेश्वरप्रार्थनायै मोनाजातये च विंशतिं वर्षाणि लीन आसीत् । शरीरपोषणं स्वनिर्वाहं केवलं पनीरफल-दुग्धभक्षणेनाऽकार्षीत्', इत्यादि ।

अपि च **रावजीवोरा** जातीया ये प्रसिद्ध्या **लोटीया वोरा** उच्यन्ते । तेऽपि मांसादनस्याऽतिनिन्दितत्वात् कदाऽपि मांसं नाऽदन्ति । अत एव तेषां '**नगोसीया** (न मांसादाः) नमांसीया इति वा' इति प्रसिद्धिः । तदीयधर्मपुस्तके-ष्वप्युक्तं तद्भाषया-

"फला तज अलू बुतून कुम मकावरल हयवानात" ।

अयमर्थः -पशुपक्षिकलेवराश्रयत्वं तवोदरं न कुर्याः । अयमाशयः - तान् हत्वा नाऽत्स्यसीति ।

महम्मदीयानामपि **कुरानेशरीफ**नामकधर्मपुस्तकस्थ**सूराअनआम**-विभागस्य **आयत**नामके एकशतद्विचत्वारिंशे प्रकरणे **अल्लाताला** इति नाम्ना तदीयेश्वरेण स्पष्टं निर्दिष्टं यत्-

"व मिनल अनआमे हम् लतं व फर्शा । कुलूमिम्मारजककुमुल्लहो" ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयं भावः-अल्लानामेश्वरेण चतुष्पदेषु कतिचिद्भारोद्वहनाय सृष्टाः । भक्षणाय च भूमिसंगतवनस्पतिधान्यादि सृष्टम्, तद्यूयमद्यात ।

अपि च तस्मिन्नेव **सूरा-अन-आगम**प्रकरणे रुधिरमांसभक्षणनिषेध उक्तः । **बकरी इद** इति नामके तदीयमान्यदिवसेऽपि अजावधनिषेधः **हुशनग्रन्थस्य सुराहज्ज**विभागस्य षट्त्रिंशे **आयात**नामके प्रकरणे **अल्लाताला** इति नाम्ना तदीयेश्वरेणोक्तः । तेन स्वयं तत्र प्रतिपादितं-मांसं शोणितं वा न मां मिलिष्यति, अपि तु निवृत्त्या प्रार्थनयैव वाऽहं तुष्टो भविष्यामि । अपि चाऽद्याऽपि यदा कोऽपि महम्मदीयः **शालेक(कः) शरीयत**प्रदेशात् **टरपीट**प्रदेशं प्रविशति तदा सोऽपि मांसादनस्य दूषितत्वात् मांसभक्षणात् त्वरितमेव निवर्तते ।

आङ्ग्लभूमिजानामपि **बाइबल** नामकधर्मपुस्तकस्य विंशतितमे प्रकरणे कथितं यत्-'Thou Shalt not kill (Advice to Moses) ||

अयं भावः-त्वं न कमपि जीवं हन्याः ।

पुनरपि तस्यै[व] द्वाविंशे प्रकरणे प्रोक्तं यत्-'And ye shall be holy-man unto me neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the fiedls.

अयं भावः-त्वं मां प्रति पवित्रतया वर्तेथाः । वन्यान् पशून् हत्वा तदीयं मांसं नाऽद्याः ।

बाइबलात् पुरातने **जेनीसीसपुस्तके**ऽप्युक्तं यत्-

'The Primitive injunction of God to man at the creation was Behold I have given you every harb bearing Beed, which is upon the face of all the earth. and every tree in which is the fruit of a tree yeilding seed to you it shall be for meat (Gen. I-29)

अयं भावः-परमेश्वरेण मनुजोत्पत्तेरेवं खल्वादावेवाऽऽदिष्टं यत्, "अवहितव्यं भवद्भिः, यदुत मया भवद्भ्यः पृथ्वीतलोपर्युद्गच्छन्तः सबीजाः वल्ल्यादयः सबीजफला वृक्षाश्चाऽर्पितास्तदेव भवद्भक्षणायाऽलम् । भवद्भिरेतदेव भक्षणीयं नाऽन्यदिति" तदाशयः ।

तथैव **हुसीया**नामकपुस्तकस्याऽष्टमाध्याये पञ्चदशे **आयात**नामके प्रकरणे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

And When ye spread forth your hands, I will hide my eyes from you. yes, when ye make many prayers. I will not hear. your hands are full of blood.

अयं भावः-(ईश्वरो वक्ति) ''यदा यूयं भवद्धस्तौ प्रार्थनायै लम्बयिष्यथ तदाऽहं नेत्रे भवतोऽन्यतो निवर्त्स्यामि भूरिप्रार्थनायामपि नाऽहमीक्षिष्ये । यतः प्राणिहिंसातो भवद्धस्तौ शोणितलिप्तौ वर्तेते । एभिः पूर्वोदितैस्तत्तद्धर्मपुस्तकपाठैः हिंसाया मांसभक्षणस्य च निषेधः स्पष्ट एव ॥

C/o. अतुल कापडिया
अमदावाद-७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवल्लभोपाध्याय प्रणीता

मातृका-श्लोकमाला

-सं. म. विनयसागर

स्वर एवं व्यंजनों पर आधारित अक्षर ही अक्षरमय जगत है । सारी सृष्टि ही अक्षरमय है । यही अक्षर मातृका, अक्षरमाला, वर्णमाला और भाषा में बारहखड़ी इत्यादि शब्दों से अभिहित है । स्वर १६ माने गये है - अ, आ, इ, ई, उ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः और व्यंजन ३३ माने गये है :- क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द, ध्, न्, प्, फ, ब्, भ्, म्, य, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्। तथा संयुक्ताक्षर अनेक होते हुए भी तीन ही ग्रहण किये जाते है:-क्ष्, त्र्, ज्ञ् । ये ही अक्षर संयुक्त होकर बीजाक्षर मन्त्र भी कहलाते है । वर्तमान समय में हिन्दी भाषा लिपि में टंकण एवं मुद्रण आदि की सुविधा की दृष्टि से ॠ, लृ, ॡ, इन तीनों वर्णों का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

मातृका से सम्बन्धित संस्कृत भाषा में रचित जैन लेखकों की कुछ ही कृतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें आचार्य सिद्धसेनरचित सिद्धमातृका सर्वोत्तम कृति है । श्री श्रीवल्लभोपाध्याय प्रणीत मातृका-श्लोक-माला भी इसी परम्परा की रचना है ।

कवि परिचय - खरतरगच्छीय प्रथम श्री जिनराजसूरि के शिष्य प्रसिद्ध विद्वान् जयसागरोपाध्याय की परम्परा में श्रीवल्लभोपाध्याय हुए हैं ।

जयसागरोपाध्याय की शिष्यसन्तति में उपाध्याय रत्नचन्द्र > उपाध्याय भक्तिलाभ > उपाध्याय चारित्रसार > उपाध्याय भानुमेरु > उपाध्याय ज्ञानविमल के शिष्य श्रीवल्लभ थे । श्रीवल्लभ के टीका-ग्रन्थों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है ये राजस्थान प्रदेश के निवासी थे । श्रीवल्लभ की 'वल्लभनन्दी' को देखते हुए १६३० एवं १६४० के मध्य में श्री जिनचन्द्रसूरि ने इनको दीक्षित किया होगा । इनकी प्रथम कृति शिलोञ्छनाममाला टीका सम्वत् १६५४ की है । वि.सं. १६५५ में रचित ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में इनके नाम के साथ 'गणि' पद का प्रयोग मिलता है और १६६१ में रचित कृतियों में वाचनाचार्य पद का उल्लेख भी मिलता है । संघपति शिवासोमजी द्वारा शंत्रुजय तीर्थ में निर्मापित चौमुखजी की टूंक (सम्वत् १६७५) की प्रतिष्ठा में श्रीवल्लभ सम्मिलित थे । विजयदेवमाहात्म्य की रचना सम्वत् १६८७ के आस-पास हुई थी । अतः इनका साहित्य-सृजन काल १६५४ से १६८७ तक माना जा सकता है ।

इनकी रचनाओं को देखते हुए यह स्पष्ट है कि श्रीवल्लभ महाकवि थे, उद्भट वैयाकरणी थे, प्रौढ़ साहित्यकार थे और अनेकार्थादि-कोशों के अधिकृत विद्वान थे । इनके द्वारा निर्मित साहित्य इस प्रकार है :-

मौलिक ग्रन्थ :

१. विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य[१], रचना-समय अनुमानतः १६८७

२. अरजिनस्तव[२] (सहस्रदलकमलगर्भितचित्रकाव्य) स्वोपज्ञटीका-सहित, रचना-समय १६५५ से १६७० का मध्य

३. विद्वत्प्रबोध स्वोपज्ञ टीका सहित[३]- रचना-समय संभवत. १६५५ और १६६० के मध्य, रचनास्थान बलभद्रपुर (बालोतरा)

४. संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्ति-काव्य[४] र० सं० १६७५ के बाद

५. मातृकाश्लोकमाला, र० सं० १६५५, बीकानेर

६. चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल[५]

७. ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी[६], र० सं० १६५५ विक्रमनगर (बीकानेर)

८. खरतर पद नवार्थी[७]

टीका ग्रन्थ :

१. शिलोञ्छनाममाला-टीका[८], र० सं० १६५४, नागपुर (नागोर)

२. शेषसंग्रहनाममाला दीपिका, र० सं० १६५४, बीकानेर

३. अभिधानचिन्तामणिनाममाला - 'सारोद्धार' - टीका, र० सं० १६६७, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. निघण्टुशेषनाममाला टीका[९], र० सं० १६६७ के पूर्व

५. सिद्धहेमशब्दानुशासन टीका

६. हैमलिङ्गानुशासन-दुर्गपदप्रबोधवृत्ति[१०], र०सं० १६६१, जोधपुर

७. सारस्वतप्रयोगनिर्णय (१६७४ से १६९०)

८. 'केशाः' पदव्याख्या[११]

९. विदग्धमुखमण्डन टीका

१०. अजितनाथ स्तुति टीका[१२], र० सं० १६६९, जोधपुर

११. शान्तिनाथविषमार्थस्तुति टीका[१३]

१२. 'खचरानन पश्य सखे खचर' पद्यस्य अर्थत्रिकम्[१४]

१३. 'यामाता' पद्यस्य अर्थपञ्चकम्[१५]

भाषा की लघु कृति :

१. चतुर्दशगुणस्थान-स्वाध्याय[१६]

२. स्थूलभद्र इकत्रीसा

गच्छ-संघर्ष-युग में भी स्वयं खरतरगच्छ के होते हुए तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य विजयदेवसूरि के गुण-गौरव को सम्मान के साथ अंकित करते हुए विजयदेवमाहात्म्य की रचना करना कवि की उदार दृष्टि का परिचायक है। अरजिनस्तव को देखने से स्पष्ट है कि कवि चित्रकाव्यों के अद्भुत मर्मज्ञ थे। इस कृति में कवि ने कमल के मध्य में १००० रकार का प्रयोग करते हुए अपना विशिष्ट चित्रकाव्यकौशल दिखाया है।

प्रस्तुत कृति का सारांश :

यह कृति दो परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में २४ तीर्थंकरो का वर्णन किया गया है और द्वितीय परिच्छेद में त्रिदेव आदि देवताओं तथा पदार्थों का वर्णन किया गया है। अंत में छः पद्यों में रचना-प्रशस्ति देते हुए इसकी रचना का समय दिया है।

प्रथम परिच्छेद के प्रथम श्लोक में भगवान शान्तिनाथ को प्रणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर विद्वानों के बुद्धि रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य के समान और काव्य-कला में शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करने के लिए मातृका-श्लोक-माला रचना की प्रतिज्ञा की है । दूसरे पद्य में कहा गया है कि प्रथम परिच्छेद में २४ तीर्थंकरो का वर्णन करूँगा और दूसरे परिच्छेद में भिन्न-भिन्न पदार्थों का वर्णन करूँगा । तीसरे पद्य में अकार में अर्हत् जिनेश्वर का वर्णन कर पद्य ४ से २७ तक आकार से लेकर झ व्यंजन तक भगवान् आदिनाथ से प्रारम्भ कर भगवान् महावीर पर्यन्त २४ जिनेश्वरों का वर्णन किया गया है ।

दूसरे परिच्छेद में ञ से प्रारम्भ कर ह ळ और क्ष व्यंजनाक्षर का प्रयोग करते हुए २६ पद्यों में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, चन्द्र, दिग्पाल, इन्द्र, शेष-शायी विष्णु, मुनिपति, राम, लक्ष्मण, समुद्र, जिनेश्वर एवं तीर्थंकर आदि को लक्ष्य बना कर रचना की गई है ।

इस कृति का यह वैशिष्ट्य है कि प्रत्येक पद्य के चारों चरणों में प्रथमाक्षर में उसी स्वर अथवा व्यंजन का प्रयोग अलंकारिक भाषा में किया गया है ।

कवि ने व्यंजनाक्षरों में त्र और ज्ञ का प्रयोग नहीं किया है । इसके स्थान पर ळ और क्ष का प्रयोग किया है । यह ळ डिंगल का या मराठी का है अथवा अन्य किसी का वाचक है, निर्णय अपेक्षित है ।

छन्दःकौशल :

इस लघु कृति में विविध छन्दों का प्रयोग करने से यह स्पष्ट है कि कवि का छन्दःशास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार था । इस कृति में निम्न छन्दों का प्रयोग हुआ है :

प्रथम परिच्छेद : शार्दूलविक्रीडित १, अनुष्टुप् २, उपेन्द्रवज्रा ३, ४, ७, ९, इन्द्रवज्रा ४, ६, ८, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २४, २५, २७, मालिनी ११, २१, दोधक १७, १८, २३, सुन्दरी (हरिणप्लुता) १९, २०, २६, स्वागता २२ ।

द्वितीय परिच्छेद : उपेन्द्रवज्रा १, ३, ६, १७, २३, इन्द्रवज्रा २,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५, ८, ९, १८, २३, २५, २६ सुन्दरी (हरिणप्लुता) ७, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, २०, २४, मालिनी, १९, २१, वसन्ततिलका-इन्द्रवज्रा ४ (यहाँ कवि ने प्रथम चरण वसन्ततिलका का दिया है, और शेष तीनों चरण इन्द्रवज्रा में दिये है ।)

रचनाप्रशस्ति - आर्याछन्द १, २, ४, ५ अनुष्टुप् ३, ६

हस्त लिखित प्रति :

श्री लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद मुनिश्री पुण्यविजयजी के संग्रह में ग्रन्थांक २८८८ पर सुरक्षित है । प्रति टिप्पणसहित शुद्धतम है । लेखनकाल नहीं दिया है, किन्तु लिपि और कागज को देखते हुए १७वीं शताब्दी में रचना-काल के आस-पास ही लिखी गई है ।

टिप्पणियाँ -

१. मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित होकर 'जैन साहित्य संशोधक समिति' अहमदाबाद द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित
२. मेरे द्वारा सम्पादित होकर विस्तृत भूमिका के साथ सुमती सदन कोटा से सन् १९५३ में प्रकाशित
३. महावीर स्तोत्र संग्रह पुस्तक में जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार सूरत से प्रकाशित
४. मेरे द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान राज्य विद्या प्रतिष्ठान सन् १९५३ प्रकाशित
८. मेरे द्वारा सम्पादित होकर लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्या संस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९७४ में प्रकाशित
९. लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्या संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से सन् १९७४ में प्रकाशित
१०. अमीसोम जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा सन् १९४० में प्रकाशित

५, ६, ७, ११, १२, १३, १४, १५, १६. प्रेस कॉपी मेरे संग्रह में ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाचकश्रीश्रीवल्लभगणिप्रणीता

श्री मातृका-श्लोकमाला ।

चतुर्विंशतिजिनवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः

★

॥ ꣽ॥ ॐ नमः ॥ ऐँ नमः ॥

★

श्रीशान्ति प्रणिपत्य नित्यमनघं संनम्रकम्रामरा-
धीशाभ्यर्चितपूजनीयचरणाम्भोजं जनानन्दनम् ।
विद्वद्बुद्धिसरोजसूर्यसदृशीं **श्रीश्लोकमाला**महं,
वक्ष्ये काव्यकलाशुसिद्धय इमां **श्रीमातृकायाः** शुभम् ॥१॥

चतुर्विंशतिसार्वाणां प्रथमे ह्यत्राऽस्ति वर्णना ।
भिन्नभिन्नपदार्थानां परिच्छेदे द्वितीयके ॥२॥

तद्यथा-

अनेकदेवासुरपूजनीया, **अ**हर्निशं रान्तु सुखानि सार्वाः ।
अगण्यपुण्याम्बुधयः शरण्या, **अ**निष्टदुष्कर्महरा वरेथाः(ण्याः) ॥३॥

आतङ्कदोषक्षयकारि धर्मं, **आ**दीश्वरो यच्छतु मङ्गलानि ।
आश्चर्यकारी भविनां जिनेश, **आ**भासिता येन महोदयश्रीः ॥४॥

इलातलख्यातयशा वरौजा, **इ**तामयः श्रीअजिताह्वसार्वः ।
इतो भवात् पातु जगत्प्रतीत, **इ**भाङ्कशाली गुणरत्नमाली ॥५॥

ईष्टे त्रिलोक्यां किल तीर्थराज, **ई**शो मुनीनां स हि शम्भवाख्यः ।
ईर्ष्यालुतामुक्तविशुद्धचेता, **ई**ड्यस्सतां वैरिगणस्य जेता ॥६॥

उदारतारञ्जितसाधुचेता, **उ**पास्यतां भव्यजना जिनेशः ।
उपासना यस्य ददाति पद्मां, **उ**पासकानामभिनन्दनाह्वः ? ॥७॥

ऊर्ज्जेन बुद्धेर्विदितप्रतिष्ठ-ऊर्ज्जस्वि धीमत्प्रतिवादिगोष्ठ्याम् ।
ऊर्ध्वं गतं यद्यश एधते वै, **ऊ**र्ग्वान् क्रियाच्छं सुमतिर्जिनस्सः ॥८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋद्धिप्रदाता सततं त्रिलोक्या, ऋध्यन्महासंयमरम्यलक्ष्म्या ।
ऋंजस्व[१] पुण्यानि विशां वरश्रीः ऋश्येङ्ग[२] पद्मप्रभतीर्थनाथ ॥९॥

ॠकारमन्त्रेण सुजप्त एष, ॠदायकः[३] स्यान्नितरां जनानाम् ।
[४]ॠभूत्करैरर्चितपादपद्म, ॠतामृतश्री[५]श्च सुपार्श्वसार्वः ॥१०॥

[६]ऌतकनतजनानां मङ्गलानि प्रदेया
ऌफिडकपटहारी[७] सार्वचन्द्रप्रभ त्वम् ।
ऌतनययतिराज्या[८] गीतविख्यातकीर्त्ति-
ॡरिव[९] विशदतेजाः केवलज्ञानभास्वान् ॥११॥

ॡभ्विन्द्रभूमीन्द्रकृतोपचर्य[१०], ॡकारमन्त्रोपमनामधेयः ।
ॡलोकचक्रस्य[११] ददातु बुद्धी-ॡजातसेव्यः[१२] सुविधिः स्वयम्भूः ॥१२॥

एधित्वगम्भीर[१३] उदारचेता, एनांसि नाशं नयतान्मुनीनाम् ।
एषोऽब्जसौम्याननशीतलेश, एकाग्रसद्ध्यानमना जिनेशः ॥१३॥

ऐश्वर्यवृद्ध्यै भवताद्धतां हा, ऐरावताङ्गोपमवर्ण्यवर्णः ।
ऐन्द्रीं श्रियं योऽनुचकार सद्य, ऐश्यश्रियैकादशतीर्थपः सः ॥१४॥

ओघं मघानां विदधातु देवा ओजोयुता यस्य यशः स्तुवन्ति ।
ओकः कलानां च लसद्गुणाल्या, ओर्ज्जाप्रदः[१४] श्रीजिनवासुपूज्यः ॥१५॥

---

१. स्तोतव्यज्ञानेत्यर्थः । २. पाकीकुरु ।
३. धनदायकः । ४. सुरसङ्घैः ।
५. प्राप्तमुक्तिश्रीः । ६. सत्यकथनऌलोकानाम् ।
७. ऋंक् गतौ, ऋयति मिथ्यात्वं प्राप्नुवन्ति ये ते ऋफिड़ाः, कुतीर्थिन इत्यर्थः । बाहुलकात् फिडक् प्रत्ययः । ततः ऋफिडादीनां ड्श्च इत्येनन ऋकारस्वरस्य ऌत्वे ऌफिडास्तेषां कपटं हरतीत्येवंशीलः ऌफिडकपटहारी ।
८. ऌः सप्तर्षीणां माता तस्यास्तनयाः पुत्रा ऌतयास्ते ते यतिनश्च ऌतनययतिनः सप्तर्षय इत्यर्थः, तेषां राजी श्रेणिस्तया ।
९. अग्निः । १०. सुरेन्द्रभूपतिकृतसेवः ।
११. मूर्खजनवृन्दस्य । १२. नागकुमारसेव्यः ।
१३. समुद्रगम्भीरः ।
१४. आ समन्तात् ऊर्ज्जां जीवनं प्रददाति यः स तथा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औदार्यगाम्भीर्यगुणैर्गरिष्ठः, **औ**न्नत्ययुक्तो विमलः स सार्वः ।
औद्धत्यहृद् रातु सुखं त्रिलोक्या **औ**चित्यमर्च्चा धरतीह यस्य ॥१६॥
अंतकनाशक चञ्चुरचेता, **अं**चति[15] ना तव यश्चरणौ वै ।
अंकत[16] आशु सुखानि गतागा, **अं**युग[17]ऽनन्त जगद्धितकारिन् ॥१७॥
अःसम[18] कामहतौ विहतैना **अः**स्थितमानस[19] नाशय दुःखम् ।
अस्त[20]कुवादिमतप्रतिमौजा **अ**स्तुलभायुत[21] तीर्थपधर्मः ॥१८॥
कनककान्तिसमानशरीररुक्, **क**लुषमेष निरस्यतु मामकम् ।
करणवारणवारणसद्धरिः **क**लगुणः किल शान्तिजिनेश्वरः ॥१९॥
खनतु पापखनिं करुणानिधिः, **ख**लकलाम्बुजनाशनचन्द्रमाः ।
खरतरा अथ कुन्थुजिनेश्वरः **ख**चरनिर्ज्जरकिन्नरसंस्तुतः ॥२०॥

गगनमणिरिवेदं ज्ञानमाविष्करोति,
गणधरवरराजो वस्तुजातं हि यस्य ।
गज इव तरुवृन्दं नाशयैनो मदीयं,
गतिजितकरिराजोऽराऽऽप्त स त्वं प्रसद्य ॥२१॥

घोरचोररिपुभीतिविनाशी,
घट्टितामृतरसः शुभदायी ।
घट्टयाश्वनिशमिष्टसमृद्धिं,
घर्षिताऽकुशल मल्लिजिन त्वम् ॥२२॥

ङाक्षरवक्रकुकर्मविनाशिन्,
[22]**ङ**ाचयमाशु विधेहि विधातः ।
ङागत[23] सुव्रततीर्थप नित्यं
ङामदरोगसुखेतरहारिन्[24] ॥२३॥

---

१५. पूजयति । १६. प्राप्नोति ।
१७. परमब्रह्मसहित । १८. शिवतुल्यः ।
१९. आसि आश्चर्ये स्थितं मानसं यस्य स तथा तत्सम्बोधने अःस्थितमानस ।
२०. क्षिप्त ।
२१. असः सूर्यस्य तुला यस्याः सा अस्तुला सा चासौ भा च अस्तुलभा, तया युतो यः स तथा तत्सम्बोधने अस्तुलभायुत ।
२२. ङाचयं लक्ष्मीनिचयम् । २३. सिद्धिगत । २४. निन्दामदरोगदुःखनाशक ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्कर्तु भर्ता वरमुक्तिलक्ष्म्या
श्चञ्चच्छुभं भक्तजनस्य नित्यम् ।
चन्ददगुणो[२५] यो नमिनाथसार्व-
श्चन्द्रोपमक्षान्तिरसाम्बुधिस्सः ॥२४॥

छिन्नच्छलो नेमिजिनेश्वरस्सः,
छिन्द्यात्तमां कर्ममलानि सद्यः ।
छेकाललोकाः स्तवनं यदीयं,
छिन्दन्त एनो रचयन्ति दिष्ट्या ॥२५॥

जयतु पार्श्वजिनस्स विधीयते, जनतया नतया च यदर्च्चनम् ।
जलदकान्तिसमानशरीररुग्, जगति दीप्तयशा जयवानहो ! ॥२६॥

झषध्वजस्थाममहीध्रवज्रो,
झरां[२६] नयत्वाऽऽश्वऽशुभानि मेऽद्य ।
झट्यन्त[२७] एनांसि च यत्प्रसत्त्या,
झगित्य[२८]थो वीरजिनेश्वरस्सः ॥२७॥

इति श्रीमातृकाश्लोकमालायां चतुर्विंशतिजिनवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

---

२५. चन्दंत आह्लादयन्तो दीप्यमाना गुणा यस्य स तथा ।

२६. हानिम् ।

२७. झट्यन्ते विनश्यन्ते ।

२८. शीघ्रम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ भिन्नभिन्नपदार्थवर्णनो नाम द्वितीयः परिच्छेदः प्रारभ्यते-

ञमाप्रदः[१] पातु भवाज्जनानां,
ञमन्त्रजप्तो हितकारकश्च ।
ञ[२]उत्तरश्रीश्च नरायणस्स,
ञतुल्यभालः[३] कमलाभनेत्रः ॥१॥

टङ्कोपमो[४] व्याजदृषद्विनाशे,
टङ्कोज्झितः[५] शर्म्मयुतो महेशः ।
टङ्गायुधेना[६]ऽऽह तदानव त्वं,
टङ्क्या[७] जनानां दुरितानि शीघ्रम् ॥२॥

ठत्वं[८] विधाता मम सेवकस्य,
ठग्या[९]त्तमामक्षरमन्त्रकर्त्ता ।
ठेत्यक्षरं यो वलयेति नाम्ना,
ठादेषु[१०] मन्त्रेषु समाचचक्षे ॥३॥

डिण्डीरपिण्डसमपाण्डुरशीलसेवी,*
डीनाऽमलाऽनल्पसुकल्पकल्पः[११] ।
डिम्बं[१२] सुराणां शिखिवाहनो[१३]ऽसौ,
डिम्भ्या[१४]त्तरामाऽऽहतदानवौघः ॥४॥

ढक्कादिवाद्यानि च यत्पुरस्तात्,
ढौकन्त ऋद्धा मनुजाः स्मरन्तः ।
ढुढी सुदेवी प्रददातु बुद्धी-
ढौक्या[१५] नितान्तं बुधलोकचक्रैः ॥५॥

---

* पद्येऽस्मिन् प्रथमचरणे वसान्ततिलकाया अवशिष्टे पादत्रये चेन्द्रवज्राया नियमानुसारेण च्छन्दोद्वैविध्यमिति ।

१. ज्ञानलक्ष्मीप्रदः । २. ञो गूढरूपः ।
३. ञः चन्द्रार्द्धमण्डलं तत्तुल्यं भालं ललाटं यस्य स तथा ।
४. पाषाणदारकसमानः । ५. कोपरहितः । ६. खड्गायुधेन । ७. हन्यात् ।
८. ठस्य भावः ठत्वं, सठत्वमित्यर्थः । ९. हन्यात् । १०. विजयेषु ।
११. प्राप्तनिर्मलप्रचुरसुवेदाङ्गनयः । १२. भयं डमरं वा ।
१३. कार्त्तिकेयः । १४. हन्यात् । १५. सेव्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णकारमन्त्राक्षरजप्तनामा,
णमा[१६]नवव्राजसभाजितांघ्रिः[१७] ।
णमां[१८] प्रदद्यात् सकलां गणेशो,
णदायकः[१९] शान्तिविधायकश्च ॥६॥

ततसुदीधितिराऽऽशु तमस्ततिं,
तरणिरेष विनाशयतु प्रगे ।
तरुणसत्किरणैररुणैररं,
तमसनाशकरः[२०] कृतपद्ममुत्[२१] ॥७॥

थं[२२] देहि सद्यो लसदुत्पलानां,
थट्टैः[२३] कलानां कलितो दिनेशात् ।
थे चोदयस्योदिततः[२४] सुकान्ते,
थोरोहिणीनायक चन्द्रमस्त्वम् ॥८॥

दिक्पालमुख्यो दयितो जनानां,
दक्षक्षमानाथमनःप्रमोदी ।
दिष्टिं[२५] विशिष्टां हि सुभिक्षकारी,
दद्यात्तमां सोमसुदैवतोऽसौ ॥९॥

धनपतिः सुरनायकसेवको,
धवलरूप्यमहीध्रकृताश्रयः ।
धनद एव समृद्धिविधायको,
धरतु शर्म्म च यच्छतु सुश्रियम् ॥१०॥

---

१६. योग्य । १७. सेवित् ।
१८. स्पष्टलक्ष्मीम् । १९. ज्ञानदाता ।
२०. अन्धकारनाशकरः । २१. हर्षः ।
२२. भीत्रणम् । ? २३. सङ्घैः ।
२४. किम्भूताद्धि थेचोदयस्य उदयस्य थे पर्वते-उदयाचले इत्यर्थः उदिततः उदिता इत्यर्थः ।
२५. आनन्दम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नलिनमोहनशोभनलोचनो,
नरवरार्चितपश्चिमदिक्पतिः ।
नयतु भद्रशतान्यमिताग्न्यऽसौ,
नयमयोर्णवमन्दिरऋद्धिदः ॥११॥

परमपुण्यपवित्रविचित्ररुक्,
पटुगुणः प्रवणः करुणाविधौ ।
पविपतिस्त्रिदशाननिशं नतान्,
पदं[२६]मसौ प्रददातु पुरन्दरः ॥१२॥

फटपदिष्ठवराङ्गवराङ्गरुक्,
फणिपतिर्धरणीं धरतात्तराम् ।
फणितकिल्विषकिल्बिषकल्मषः[२७],
फलितपेशलकोमललोचनः[२८] ॥१३॥

बहुलपुष्कलमङ्गलमण्डलीं,
बलवतां बलतां[२९] परमेश्वरः ।
बत[३०] सतां यतिनां नमतां सदा,
बहुकलाकलितः कुशलाशयः ॥१४॥

भगवतोऽभ्युपपत्तिवशा[३१]च्छुभं,
भवतु पुण्यवतः परमात्मनः ।
भवत[३२] एधित विश्वलसद्यशो,
भयभरोज्झित भूमिपते प्रभो ॥१५॥

मुनिपतिर्नयवान्नयतादसौ,
मतशुभानि[३३] शुभानि[३४] जनस्य वै ।
मनुजपूजितसच्चरणाम्बुजो,
मथितमन्मथदुस्सहदर्परुक् ॥१६॥

---

२६. त्राणम् । २७. नाशितरोगाऽपराधपातकः ।
२८. फलितानि विस्तीर्णानि अक्षीणि द्विसहस्रत्वात्, पेशलानि मनोहराणि कोमलानि मृदूनि लोचनानि यस्य स तथा ।
२९. दत्ताम् । ३०. हर्षेण । ३१. प्रसादात् । ३२. तव ।
३३. सम्मतभद्राणि । ३४. भव्यानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यमो हि दिक्पालवरो विभाति,
यथार्हदण्डं प्रददान एषः ।
यथा पतिः पूर्वदिशः सुरेन्द्रो,
यशोयुगीशश्च तथा ह्यपाच्याः ॥१७॥

रामो नृपेन्द्रः प्रणताङ्गभाजां,
रम्यां रमां रातु मनः प्रसन्नः ।
राजव्रजैस्सेवित एधितदर्धी,
रत्नाकरः सद्गुणरत्नराज्याः ॥१८॥

लुलितमिलितपृथ्वीपालभालाभिसेव्यो,
ललितचतुरराज्या रञ्जितः स्पष्टवाग्भिः ।
लसितसितगुणौघो लक्ष्मणाख्यः कुमारो,
लयनयचययुक्तस्तुष्टिपुष्ट्यै समस्तु ॥१९॥

वनमिदं प्रतिभाति महत्तरं,
वरफलालियुतैस्तरुभिः शुभम् ।
विजितनन्दननन्दनसत्प्रभं,
विविधपक्षिमधुव्रतसेवितम् ॥२०॥

शमयतु जनतायाः पातकानां प्रतानं,
शमरसऋतियुक्तै[३५]र्योगिभिः सेवनीयः ।
शमनशमनकामोत्तुङ्गमातङ्गसिंहः,
शिशिरकिरणचञ्चच्छुक्लिमा नष्टकष्टः ॥२१॥

षण्ढत्ववल्लीपरशुः सुधर्मः,
षड्वर्गसंसर्गवियुक्त एषः ।
षण्डालिका[३६]सङ्गमदोषवादी,
षिड्गेतरै राजति पुम्भिरर्च्यः ॥२२॥

समुद्र एष प्रतिभाति नित्यं,
सरित्स्फुरन्नीरसुसङ्गमाढ्यः ।

---

३५. कल्याणसहितैः ।

३६. कामुकस्त्री ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदा निशानाथसुवृद्धवेलः
सतां जनानां स्तवनीय इष्टः ॥२३॥

हतकुतीर्थिमतं भगवन्मतं,
हरतु दुर्गतिपातकपातकम् ।
हरिहरादिसुरैरजितप्रभं,
हसितचन्द्रसुचन्द्रगुणैर्युतम् ॥२४॥

ळख्यात[37]कीर्त्तिर्गुरुरेष जीया-
ळब्धप्रतिष्ठः प्रतिवादिगोष्ठ्याम् ।
ळानाथ[38]शौक्ल्योपम यत्प्रसादा-
ळष्टप्रतिज्ञो भवतीह मूर्खः ॥२५॥

क्षेमङ्करैस्तीर्थकरैर्य उक्तः,
क्षामः कुतीर्थ्यालुदितैः कलङ्कैः ।
क्षिप्यात्तमामागम एष पापं,
क्षेत्रं गुणानामथ चिन्मयस्सः ॥२६॥

इति श्रीमातृकाश्लोकमालायां भिन्नभिन्नपदार्थवर्णनो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

★

[प्रशस्तिः]

श्रीमद्विक्रमनगरे प्रवरे द्रव्याढ्यसभ्यजनवृन्दैः ।
इषुशरषोडशसंख्ये (१६५५) वर्षे मासे च चैत्राख्ये ॥१॥

येषां प्रथते पृथव्यां कीर्त्तिः कर्पूरपूरसंकाशा ।
पाठकमुख्या नन्द्यु**र्ज्ञानविमल**पाठकाधीशाः ॥२॥

शिष्येण निर्म्ममे येषां **मातृकाश्लोकमालिका** ।
वाचकश्रीवल्लभाह्वेनाऽऽत्मीयज्ञानस्य वृद्धये ॥३॥

---

३७. लोक ।

३८. ळा गौरी तस्या नाथो ळानाथो महादेव इत्यर्थः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यं वर्णं यश्च बुधः कथयत्यादौ विधाय तं विद्वान् ।
कुर्यात् सद्यः पद्यं चतुर्थु पादेषु निश्शङ्कः ॥४॥

यस्यैषा याति मुखे सुखेन लभतां स सत्वरं सभ्यः ।
विद्वज्जनेषु विद्वान् सौभाग्यौघं कवित्वञ्च ॥५॥

यस्मिन् काव्येऽस्ति यन्नाम व्यत्ययात्तस्य सत्वरम् ।
यथोक्तवर्ण्यस्य सद्व्याख्या तदा ज्ञायेत भो बुधाः ॥६॥

इति श्रीमातृकाश्लोकमालाप्रशस्तिः समाप्ता ॥

तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं श्रीमातृकाश्लोकमाला ॥

श्रीरस्तु

लेखितं त्रैलोक्यस्यन्ताह्वेन ॥

C/o. प्राकृत भारती
१२-A. मेन मालवीयनगर,
जयपुर-३०२०१७

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञातकर्तृकं

श्रीशत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटिका-स्तोत्रम् ॥

सं.आ. विजयअरविन्दसूरिः

आ स्तोत्रना कर्ताए पोतानुं नाम प्रगट कर्युं नथी पण आंतरिक विगतोना आधारे समजी शकाय छे के आ बधां मन्दिरो वस्तुपालनी हयातीमां के ते पछी तरतना समयमां बनाव्यां हशे. पण आजे ते मन्दिरो कया स्थाने छे ते नक्की करवुं जोईए.

आ मन्दिरो तेरमी सदीना अन्त भागमां अने चौदमी सदीना पूर्वार्धमां बन्यां होवां जोईए. पण १३६८मां अलावदीनखीलजीना वखतमां तेना लश्करे नष्ट कर्यां हशे. ते वखते जावडिना भरावेला आदीश्वर भगवानने पण खण्डित कर्या हशे, एटले समराशाहने नवा भराववानो वखत आव्यो हतो ते ऐतिहासिक सिद्ध थयेली हकीकत छे. आ स्तोत्र प्रगट थयेलुं अमारा जोवामां आव्युं नथी एटले आ भाववाही स्तोत्र प्रगट करवा मोकल्युं छे.

श्रीशत्रुञ्जयचैत्य परिपाटिका

(वसन्ततिलका)

नम्रेन्द्रमण्डलमणीमयमौलिमाला, -मीलन्मरीचिचयचुम्बितपादपीठम् ।
नत्वा युगादिजिनमादिमतीर्थराजम्, शत्रुञ्जयं गिरिपतिं प्रयतः स्तवीमि ॥१॥

पुण्यं चिनोति नरजन्मफलं तनोति, पापं लुनाति नयनानि सतां पुनाति ।
दूरेऽपि दर्शनपथं समुपागतो यः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥२॥

श्रीपादलिप्तपुरपावनपार्श्वनाथ-श्रीवर्धमानजिनराजयुगं नमन्ति ।
नेमीश्वरं च भविका यदधोविभागे, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥३॥

शृङ्गं च यस्य भविका अधिरूढवन्तः, प्रासादपंक्तिममलामवलोकयन्तः ।
लोकोत्तरं किमपि सौख्यमहो लभन्ते, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षत्रयीविरहिता द्रविणस्य कोटी-स्तिस्रो विविच्य किल **वाग्भटमन्त्रिराजः** ।
यस्मिन् युगादिजिनमन्दिरमुद्दधार, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥५॥

कर्पूरपूरधवला किल यत्र दृष्टा, मूर्त्तिः प्रभोर्जिनगृहप्रथमप्रवेशे ।
सम्यग्दृशाममृतपारणमातनोति, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥६॥

श्रीमूलनायकजिनः प्रणतः स्तुतो वा, संपूजितश्च भविकैर्भवकोटिबद्धम् ।
यत्रोच्छिनत्ति सहसाऽखिलकर्मजालं, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥७॥

अष्टोत्तरे च किल वर्षशते व्यतीते, श्रीविक्रमादथ बहुद्रविणव्ययेन ।
यत्र न्यवीविशत **जावडि**रादिदेवं, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुंडरीकः ॥८॥

मम्माणिनाममणिशैलतटीसमुत्थ-ज्योतीरसाख्यवररत्नमयश्च यत्र ।
दृष्टोऽथ पूर्व इव भाति युगादिदेवः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥९॥

यत्रार्चिते भगवतीह करौ कृतार्थौ, वाणी स्तुते च सफला प्रणते च भालम् ।
द्रष्टव्यदर्शनफले नयने च दृष्टे, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१०॥

यत्रादिमो भगवतः किल दक्षिणाङ्गे, वामे च जावडिनिवेशितमूर्तिरन्यः ।
श्रीपुण्डरीकयुगलं भवभीतिभेदि, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥११॥

इक्ष्वाकुवृष्णिकुलजा मुनिकोटिकोट्यः, संख्यातिगाः शिवसुखश्रियमत्र भेजुः ।
इत्याह यत्र तिलकं किल कोटिकोटेः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१२॥

पञ्चापि पाण्डुतनया सहिता जनन्या, कुन्त्याख्यया शिवमगुः शिखरे यदीये ।
तन्मूर्त्तयः षडिति शासति यत्र लेप्याः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१३॥

यत्र प्रियालुरिति चैत्यतरुश्चिरत्नः, श्रीसंघपुण्यमहिमाद्भुतदुग्धवर्षी ।
शस्तं समस्त्य**नुपमा**ख्यसरोवरं च, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१४॥

श्रीपादुकां भगवतः प्रणिपत्य यत्र, भालस्थले तिलकिता नखजैर्मयूखैः ।
भव्या भवन्ति सुभगा शिवसौख्यलक्ष्म्याः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः॥१५॥

हिंसाजुषोऽपि पशवोऽपि मयूरमुख्याः, स्पृष्ट्वा यदीयशिखरं परिपूतदेहाः ।
आसादयन्ति तरसा सुरसम्पदोऽपि, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वाविंशतिजिनवरा अजितादयस्ते, स्वस्वप्रभाञ्चितसपादुकलेप्यबिम्बैः ।
अत्रैयरुः श्रुतिमिति द्रढयन्ति यत्र, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१७॥

वामे च पार्श्व इह **सत्यपुरावतारः**, स्याद् दक्षिणे **शकुनिकाङ्कितसद्विहारः** ।
अष्टापदो भगवतः किल यत्र पृष्ठे, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१८॥

नन्दीश्वरस्य **गिरनार**गिरीश्वरस्य, **श्रीस्तम्भनस्य** भविका **अवतारतीर्थम्** ।
संवीक्ष्य यत्र परमां मुदमुद्वहन्ति, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥१९॥

स्वर्गाधिरोहभवने जगतां कृपालु-र्यत्र प्रभुर्विनमिना नमिना च सेव्यः ।
तत्खड्गबिम्बनकृतापररूपयुग्मः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥२०॥

श्रीषोडशो जिनपतिः प्रथमो जिनेन्द्रः, श्रेयांसनेमिजिनवीरजिनेन्द्रमुख्याः ।
शृङ्गं द्वितीयमिह यत्र पवित्रयन्ति, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥२१॥

त्रैलोक्यलोचनचकोरकचन्द्रिकाभा, सुस्वामिनी शिवगता मरुदेविनाम्नी ।
यत्र प्रयच्छति निजं सुखसंविभागं, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥२२॥

यत्रैष भव्यजनकल्पितकल्पवृक्षः श्रीसङ्घरक्षणमहर्निशबद्धकक्षः ।
अष्टासु दिक्षु वितनोति कपर्दियक्षः, श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः ॥२३॥

इत्येवंविधपुण्डरीकशिखरिस्तोत्रं पवित्रं मुदा ।
श्रीमन्नाभिननरेन्द्रनन्दनजिनध्यानैकतानव्रतः ॥
श्रद्धाबन्धुरमानसः पठति यः सन्ध्याद्वये नित्यशः ।
स्थानस्थोऽपि निरन्तरं स लभते तत्तीर्थयात्राफलम् ॥२४॥

॥ इति श्रीशत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटिका समाप्ता ॥

C/o. यश मोटर्स
१३८७/१, मुखीवास, मीठाखली,
अमदावाद-३८०००६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेम-राजुल लेख

सं. डो. रसीला कडीआ

प्रस्तुत कृतिनी नकल ला.द.भा.विद्यामन्दिर, अमदावादना त्रूटक हस्तप्रत परथी करी छे. आ माटे हुं उपलब्ध करावनार श्री लक्ष्मणभाई भोजक तथा संस्थानो आभार मानुं छुं.

नव भवनी प्रीतिने, मात्र जीवदयाथी प्रेराईने, छांडी जनार श्री नेमिकुमार (जैनोना २३मा तीर्थंकर) अने राजुलने विषय बनावी जैनोमां घणुं साहित्य रचायुं छे. अहीं पत्र स्वरूपे आ रचना बनी छे. नेमकुमारे रथ पाछो वाळ्यो छे. मनना ओरता मनमां ज रही जतां, राजुल कफोडी परिस्थितिमां मूकाई छे. जे व्यक्ति तोरणेथी ज पाछी फरी छे, तेने पत्र केवी रीते लखवो ? लखे तो पहोंचाडाय केवी रीते ? पण पुराणी प्रीतनुं जोर एवुं छे के लग्नना मांडवे तरछोडायेली, समाजमां आबरू गुमावेली कन्या पत्र लख्या विना रही शकती नथी. सूनी शय्या विरहनी वेदनाने भडकावे छे. अनेक विनवणीओ, पोतानुं एकनिष्ठपणुं अने एकने मूकी जे बीजी करे छे ते आखरे छेह आपनारुं छे एम जणावी, संसारना तबक्का दर्शावे छे अने कहे छे के वृद्धावस्थामां व्रत अने योग थाय. पत्र-कागळने मित्र बनाववा कहे छे अने अंते कवि कहे छे के आवा राजुल नेम शिवपुर-मोक्षनगरीमां मळ्या त्यारे ज तेना मननी आश पूरी थाय छे. आम अतिसुंदर भावोथी गूंथेल आ रचना नेम राजुलविषयक साहित्यमां उमेरारूप छे.

अंते कविअे पोताना गुरु श्रीविनयविजय उपाध्यायना उल्लेख साथे पोतानुं रूपविजय नाम जणाव्युं छे. रचनावर्ष कृतिना संपूर्णतासूचक वाक्य पछी आपवामां आव्युं छे ते प्रमाणे आ कृति संवत १८५६, मार्गशीर्ष सुदि ८ ना रोज लखाई छे.

—x—

स्वस्ति श्री रैवतगिरें, वाह्ला नेमजी जीवन प्राण रे
लेख लखुं हुं सें करी ? राणी राजुल चतुर सुजाण ॥१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाह्ला घर आवज्यो, माहरा जीवन जादवराया, वार म लावज्यो
वली जे होय वेधक जोण, तस संभलावज्यो,
वली जे होय चतुर सुजाण, तेहनें जणावज्यो ॥२॥ आंकणी

खेमकूसल वरते ईहां, वली जपतां प्रभुजीनुं नाम रे
साहिबजी सुख शाता तणो, मुंने लखज्यो लेख अनांम ॥३॥

साव सोवन कागल करूं, वाह्ला अक्षर रेण रचंत रे
मणी मांणीक लेखण जडुं, हुं तो प्रीउगुण प्रेम लखंत ॥४॥ वा०

तोरणथी पाछा वळ्या, तेहनें कागल लखुं केही रीत रे
पण नवी रहे मन माहरुं पण साले पूरण प्रीत ॥५ वा० ॥

दिवस जिम तिम निगमुं, वाह्ला रयणी वरस हजार रे
जो होवे मन मलवा तणो, तो वहिली करज्यो सार ॥६ वा० ॥

नवयोवन प्रीउ घर महिं, वाह्ला वसवुं ते दुरिजन पास रे
बोलें बोलें रे दाखवे, वाहला उंडी मरम वीश्वास ॥७ वा० ॥

सहू को रमेरे नीज मालीये, वाहला कामनी कंतसु हेज रे
थर थर ध्रुजे मुझ देहडी, वाह्ला माहरी सुनी सेज विसेस ॥ ८ वा० ॥

वीती हसे ते जाणस्ये, वाहला विरहनी वेदन पूर रे
चतुर चित्तमां समझसे, स्युं जाणे मूरख भूर ॥९ वा०॥

पतंग रंग दीसे भलो, वाहला न ष(ख)मे तावड रीठ रे
फाटे पण फीटे नहें, हुं तो वारी चोलमजीठ ॥१० वा० ॥

उत्तम जनसुं प्रीतडी, जिम जलमां ते तेलनी धाररे
त्रीजा पोहोरनी छांहडी, ते तो वड जिम विस्तार ॥११ वा०॥

दूर थकी पण सांभली, तिणें मन मलवा तणो थाय रे
वालेसरू मुझ विनती, जिहां तिहां कही न जाय रे ॥१२ वा० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक मलें ने बीजो मले, मन मांनहिं न सनेह रे
लीधा ते मुकी जे करे, ते तो आष(ख)रे आपे छेह ॥१२ वा० ॥

जे मन नेंहें मली रह्या, उत्तम ओपम तास रे
जोज्यो ते पूर्व प्रीतडी, तेहनी जगमां रही सुवास ॥१४ वा० ॥

षा(खा)वा पीवा पहेरवा, वाहला मनगमता सणगार रे
भरयोवन प्रीउ घर नहीं, तेहनों एले गयो अवतार ॥१५ वा० ॥

बालपणेरे विद्या भणें रे, भरयोवन भोगवे भोग रे
वृधपणे रे व्रत आदरे, ते तो अवीचल पाले व्योग (योग) ॥१६ वा०॥

कागल जग भलें सरजीओ, वाहला साधो ते मीत्र कहाय रे
मननां रे दुःख मांडी लखुं, ते तो आंसुडे जल जाय ॥१७ वा० ॥

लेख लाषी(खी)णो राजुल लख्यो, वाह्ला नेमजी गुण अभीरामरे
अक्षरे अक्षर वांचज्यो, माहरी कोडाकोडी सलाम ॥१८ वा० ॥

नेम राजूल सीवपूर मल्यां, पूगी ते मननी आस रे
श्रीविनयवीजय उवझायनो, शिष्य **रूपविजय** उल्लास ॥ १९ वा०

इति श्री नेम-राजूल लेख संपूर्ण
सं. १८५६ मार्गशीर्ष सुदि ८ बुधे ल०

अघरां शब्दोनी यादी :

हेज = हेत, प्रीत
भूर = भूरि-घणो
चोलमजीठ = घेरा लाल रंगनी वनस्पति / लाल रंगनुं वस्त्र
तावड = तडको
ओपम = उपमा, सरखामणी
हुंसे = होंशे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि ऋषभदासरचित

श्रीमहावीरजिनस्तवन

सं. विजयशीलचन्द्रसूरि

कवि ऋषभदासनी एक अप्रकट रचना 'महावीरजिनस्तवन' अत्रे प्रकाशित थाय छे. कर्ताए स्वहस्ते लखेल त्रण पानांनी प्रतिने आधारे आ सम्पादन करवामां आव्युं छे. ४१ कडी प्रमाण आ स्तवन सं. १६६६ना दीवालीदिने त्रंबावती-खंभातमां रचायेलुं छे. ते समये बोलचालना व्यवहारमां प्रयोजाती भाषानो उपयोग थयेलो आ कविनी रचनाओमां सर्वत्र जोवा मळे छे; भाषा अने बोलीना ए प्रयोगो भाषाशास्त्रना तथा बोलीओना अभ्यासी जनो माटे उपयोगी होई शके.

श्रीमहावीरस्तवन ॥

ढाल ॥ वंछीतप(पू)रण मनोहरू ॥ राग-शामेरी ॥

सरसति सांम्यणि पाइ नमुं, श्रीजिन-गुरूवचने रमुं,
नीत्य नमुं वर्धमांन चोवीसमो ए ॥१॥

सीधारथ-कुलि दीवो ए, त्रीसलानंदन जीवो ए,
जीवो ए ए **नहइसार** तणो वली ए ॥२॥

चईत्र स(सु)कल तेरश दीनिं, प्रभु जनम्यो अति स्युभलगनिं,
बहु धनिं राय सीधार्थ वाधीओ ए ॥३॥

राजरमणि सूख भोगवइ, पंच वीषइ सूख जोगवइ,
संयमसमइ लोकांतीक सूर ते कहइ ए ॥४॥

दानसंवछरी देई करी, संयमरमणी तीहा वरी,
ऊलट धरी दीक्षामोहोछव सूर करइ ए ॥५॥

संयम चोखुं पालतो, कर्म कठणनिं गालतो,
टालतो घनघाती कर्म च्यारनिं ए ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढाल ॥ एणी परि राय करंता रे ॥

च्यारे चीकणां करम रे, नाणांवरणीअ
कर्म कठण जे दंसणां ए ॥७॥
मोहनी निं अंतराय रे, ए पणि खइ करइ
तव अरीहा केवल वरइ ए ॥८॥
समोवसर्ण सुर सार रे, रचता रंगस्युं
त्रणि वप्रस्यु पीठिका ए ॥९॥
रयण सीघासण च्यार रे, च्यार धजा सही
चामर वीजइ च्योहो गमां ए ॥१०॥
भामंडल जिन पूठ्य रे, अशोष तरु सही
वीस हजार गढि पगथीआ ए ॥११॥
च्यार पूखरणि वाव्य रे, समोवसरण धर्रि
अढी कोस ऊंचूं सही ए ॥१२॥

दूहा ॥

वर्धमांन जीन त्यांहा ठवी, करता वचन प्रकास ।
सकल गुणे करी दीपतो, अतीसहइ चोतीस तास ॥१३॥

ढाल ॥ दइ दइ दरीसण आपणूं ॥ राग-गोडी ॥

अतीसहइ चोतीस जीनतणा, प्रथमइ रुप अपार रे ।
रोग रहीत तन नीरमलुं, चंपकगंध सुसार रे ॥
त्रु० ॥ सार चंपक तन सुगंधी भमर भंगिं त्याहा भमइ
सास निं उसास सुंदर, कमलगंधो मुख्य रमइ ।
रुधीर मंश गोखीरधारा, अद्रीष्ट आहार नीहार रे
सहइजना ए च्यार अतीसहइ, करमघाति अग्यार रे ॥१४॥
समोवसर्ण्य बारइ परषदा, जोयन मांह्य समाय रे ।
वाणी जोयनगाम्यणी, बुझइ सूर नर राइ रे ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[त्रु०] राय बुझ[इ] रव्य सरीखुं भामंडल पूंठि सही
जोअण सवो(वा) सो लगिं भाई रोग नीसइ ते नही ।
सकल वइर पणि वलि जाइ, सातइ ईत समंत रे
मारि मरगी नहीअ नीसइ, अतीवृष्टी नवी हंत रे ॥१५॥
अनवृष्टी नही जिन थकइ, दूरभष्य नही ज लगारो रे ।
स्वचक्र-परचक्र-भइ नही, ए गुण जुओ अग्यारो रे ॥
त्रु० ॥ अग्यार गुण ए केवल पामइं सुर-कीआ ओगणीस रे
धर्मचक्र आकाश चालइ चामर दो नतिदीस रे ।
रत्नसीघासण पादपीठिं छत्र त्रणि सही सीस रे
इंद्रधज आकाश-ऊंचो जुओ जिनह जगीस रे ॥१६॥
परमेस्वर पग ज्यांहां ठवइ, कमल धरइ नव षेवो रे ।
रूप कनक मणि रत्न मइ तीन रचइ गढ देवो रे ॥
[त्रु०] देव गढ त्रणि रचइ रंगइं समोवसर्ण्य चोरूप रे
अशोषतरु तली वीर बइसइ जुओ जीनह सरूप रे ।
अधोमुखि त्याहा कहुं कंटिक सकल वीरष नमंत रे
दूदभी आकाश वाजइ शबद सहुअ गमंत रे ॥१७॥
पवन फरुकइ कुअलों अतीझीहीणो अनकुल रे ।
पंखी दइ परदक्षणा, स्युकन वदइ मुख्य-मुल रे ॥
त्रु० ॥ मुल मुख्यथी स्युकन बोलइ सूगंधि वीष्ट सोहामणी
सूर सोभागी सोय वरसइ पुफवीष्ट होइ घणी ।
समोसरणिं पंचवरणां पूफ ते ढीचणसमइ
नख केस रोमह ते न वाधइ सूर कोडि त्याहां रंगिं रमइ ॥
इंद्रीनिं अनुकुल होइ षट् सोय रति सोहामणि
चोतीस अतीसहइ वीर केरा वीर शोभा अत्यघणी ॥१८॥

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूहा ॥

वंदू वीर भगवंतनिं, नही जस लोभ लगार ।
क्रोध मांन माया नही, टाल्यां दोष अढार ॥१९॥

ढाल ॥ भवीजनो मति मुको जीनध्यानिं ॥ राग-शामेरी ॥

दोष अढार जे जीन कह्या, ते नही अरीहा पासइ रे ।
ज्युं मृगपति देखी मदिमातो, मेगल सो पणि न्हासइ रे ॥
कवीजनो, गुण गाओ जीन केरा, आल पंपाल म म ऊचरो
जस म म बोलो अनेरा रे, कवीजनो, गुण गायो जीन केरा ॥ आचली ॥२०॥
दान दीइ जीन अतीघणुं, को न करइ अंतराइ रे ।
लाभ घणो जीनवर तुझ जाणुं, बहु प्रतिबोध्या जाइ रे ॥ क० ।२१॥
अंतराय जीन नइं नही, वीरयाचार वसेषो रे ।
तप जप तुं संयम जिन पालइ, आलस नही तुझ रेखो रे ॥क० ।२२॥
भोग घणो भगवंतनइं, अनइ वली अवभोगाइ रे ।
केसर चंदन अंग्य वलेपइ, समोवसरण तुझ थाइ रे ॥क० ।२३॥
हाशवीनोध क्रीडा नही, रति-अरती नही नामो रे ।
भइ-दूगंछा जिन नवि राखइ, शोष अनिं नही कामो रे ॥क० ।२४॥
मीथ्या मुख्य नवी बोलवुं, जीननिं नही अग्यनांनो रे ।
नीद्रा नही नीसइ सही जाणो, अवरत्यनिं नही मांनो रे ॥क० ।२५॥
रागद्वेष जेणइ जीपीआ, साधइ सीवपूर वाटो रे ।
जे षट्काई हुओ रखवालों, जेणइ छंड्या मद आठो रे ॥क० ।२६॥

ढाल ॥ नंदनकु त्रीसलां हुलरावइ ॥

आठइ मद जे मेगल सरीखा, जीन जीपी जीन वारइ रे ।
मान थकी गति लहीइ नीची, पंडीत आप वीचारइ रे ॥
आठइ मद जे मेगल सरीखा ॥२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातिगरभ नव्य कीजइ भाई, लाभतणो मद तजीइ रे ।
उंच कुंलांनुं मांन करतां, नीचकुलां जइ भजीइ रे ॥आ० ।२८॥
प्रभुता निं ए बल मद वारो, रूप मान एकमनो रे ।
सनतकुमार जुओ जगि चकवइ, अंगि रोग उंपनो रे ॥आ० ।२९॥
तप मद करतां पूण्य पलांइ, श्रुतमद मुरिख थाईइरे ।
कहइ जीनराज सूणो रे लोगां, चोखइ च्यंति रहीइ रे ॥आ० ।३०॥

ढाल ॥ कहइणी करणी तुझ व्यण साचो ॥

आठि मद जीप्या जीन वीरइं, कीधो जगह प्रकासो जी ।
शंघ चतुरवीध्य स्वामी थापइ, हरी लावइ तीहा वासो जी ।
आठइ मद जीप्या जीन वीरइं ॥ आचली ॥३१॥
चउंद हजार मुनीवर अतीमोटा, गणधरवर अग्यारो जी ।
छत्रीस हजार अजीआ त्यांहा दीखी, निरमल जस आचारोजी ॥आ०।३२॥
एक लाख उंपरि वली भाषुं, ओगणसठि हजारो जी ।
श्रावक वीरतणा ए वारू, नीपण सूखी दातारो जी ॥आ०।३३॥
सूलसा परमुख त्रण्यं लष्य कहीइ, अज्जकी सहइस अढारो जी ।
वीरतणी ए सुदर श्रावीका, सती सरोमणि सारो जी ॥आ० ।३४॥
ए परीवार श्रीजिनवर केरो, नमीइ बइ कर जोड्योजी ।
शंघ चतुरवीधि स्वामीकेरो, तपज्यो सागर कोड्यो जी ॥आ० ।३५॥
अनुंकरमिं प्रभु वीहार करंता, आरय अनारय देसो जी ।
पापानगरी माहइं पोहोता, टालइ काय कर्लो(ले)स्यो जी ॥आ० ॥३६॥
नामकरम निं बीजु आउंषुं, वेदनी गोत्र वीचार्यो जी ।
च्यारे कर्मनिं वीर खेपवी, पोहोता मुगत्य मझार्यो जी ॥आ० ३७॥
संवत अंग[६] **अंग**[६] **अंग**[६] **चंदिं**[१] आसो मास दीवालीजी ।
श्रीगुरुवारि **त्रंबवती** म्हां, **थंभण पास** नेहालीजी ॥आ० ।३८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाविं भगतिं चरम जिनेस्वर, स्तवीओ बहु सुखकारीजी ।
राजरीधि सुख संपति पामइ, सुणिय को नरनारी जी ।
आठइ मद जीप्या जीन वीरि, कीधो जगह प्रकासो जी ॥३९॥

कलस ॥

करी **प्रकास** जिन मुगति पोहोता, वर्धमांन नरवीर रे
शास्यन जेहनुं आज वरतिं नीरमल गंगानीर रे ॥४०॥

तपगछ साचो देखी राचो **वीजइ सेनसूरि** गछधणी ।
सागणनो सूत ऋषभ पभणइ वीर नांमिं ऋधि घणी ॥४१॥

इती वीरस्तवन संपूरण ॥

केटलाक शब्दो

कडी		
२	नहइसार	नयसार (महावीर स्वामीनुं प्रथम जन्मनुं नाम)
४	लोकांतीक	देवजातिनुं नाम
११.	अशोष	अशोक (वृक्ष)
१२	पूखरणि	पुष्करिणी
१३	अतीसहइ	अतिशय
१४	भंगिं	भृंग
१५	ईत	ईति=उपद्रवो
१६	दूरभष्य	दुर्भिक्ष
१७	वीरष	वृक्ष
१८	कुअलों	कोमल
१८	मुख्यमुल	मुखना मूळथी-मों वडे
१८	सूर	सुर-देव
२०	मेगल	मयगल-हाथी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३	अवभोगाइ	उपभोग
२४	हाशवीनोध	हास्य विनोद
२४	भइ	भय
२५	नीसइ	निश्चे-निश्चयथी
२६	षट काई	छ जीव-काय
२८	जातिगरभ	जातिगर्व
२९	चकवइ	चक्रवर्ती
३०	च्यंति	चित्ते
३२	अजीआ	आर्या-साध्वी
३३	नीपण	निपुण
३५	सागर कोड्यो	क्रोडो सागरोपम सुधी (कालविशेष)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्रचर्चा

म० विनयसागर

अनुसन्धान-२५ में मुनि कल्याणकीर्तिविजय द्वारा सम्पादित श्रीराणभूमीशवंशप्रकाश: कृति प्रकाशित हुई । इस रचना के कर्त्ता महोपाध्याय मेघविजय गणि हैं । इस कृति में मेदपाटीय राणाओं की तीन वंशावलियाँ दी गई हैं । ये तीनों ही वंशावलियाँ भाटों की वंशावलियों के आधार पर हैं । यही कारण है कि यह वंशावली तथ्यपूर्ण और ऐतिहासिक नहीं रही। राणाओं के नाम कई अस्त-व्यस्त हैं, कई छुटभाईयों के नाम हैं, और कई मुख्य सामन्तों के भी । श्री ओझाजी ने भाटों की इन ख्यातों/वंशावलियों को ऐतिहासिक नहीं माना है । तीसरी वंशावली में १२ लक्ष्मणसिंह से लेकर २६ राजसिंह तक नामावली ऐतिहासिक है । ऐतिहासिक वंशावली ओझाजी ने 'उदयपुर राज्य का इतिहास'- दूसरी जिल्द, परिशिष्ट संख्या १, पृष्ठ संख्या ११२८ से ११३१ में दी है ।

इस रचना में सबसे ज्यादा खटकने वाली बात यह है कि पद्य ४६ में लिखा है कि - आघाट में नरसिंह भूमिपति ने पूर्व में जगतचन्द्रसूरि को तपा बिरुद प्रदान किया था । यह वर्णन कवि ने २५ जगतसिंह के वर्णन के मध्य में दिया है । तपागच्छ की समस्त पट्टावलियों में उल्लेख मिलता है कि सम्वत् १२८५ में आघाट नगर में महाराणा जैत्रसिंह ने जगच्चन्द्रसूरि को तपा बिरुद दिया था । अत: यह नरसिंह★ भूपति कौन है ? अल्लट के पुत्र नरवाहन हैं या राहप के पुत्र नरपति है ? दोनों का समय भिन्न-भिन्न है । जो १२८५ से मेल नहीं खाता है ।

महाराजा जगतसिंह का कार्यकाल १७९० से १८०८ है और महाराणा राजसिंह द्वितीय का राज्यकाल १८१० से १८१७ है । इस कृति में पद्य ५४ में कुमार भीमसिंह का भी उल्लेख किया है । भीमसिंह का राज्यकाल १८३४ से १८८५ तक है जबकि महोपाध्याय मेघविजयजी का साहित्य सृजन काल

★ **नोंध :** 'नरसिंह' को विशेष नाम न मानकर नरों में सिंह सदृशराजा- ऐसा विशेषणपरक अर्थ करने पर इस सवालका समाधान हो जाता है । सं.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७०९ से १७६० तक निश्चित है । अतः जगतसिंह का वर्णन होने से ये १८वीं शताब्दी के महाकवि एवं संस्कृत के धुरन्धर विद्वान महोपाध्याय मेघविजय कृपाविजयजी के शिष्य न हो कर १९वीं शताब्दी के मेघविजय प्रतीत होते है ।

★

अनुसन्धान-२५ में सिद्ध-मातृका प्रकरण की भूमिका में 'भले मींडी०' ॥ ओम् नमः सिद्धं' पर लेखक ने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है। मुझे स्मरण है कि मारवाड़ में भले शब्द के स्थान पर 'भोले' शब्द का ही प्रयोग होता था । भोले शब्द व्यवहार में शिव का वाचक है । शिव का वाचक होने से भोले शब्द कल्याणकारी, मंगलकारी, सिद्धिस्थान अथवा सिद्ध का वाचक मान सकते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवां प्रकाशनो

१. **कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता अभिधानचिन्तामणि-नाममाला, श्रीदेवसागर गणि विहित 'व्युत्पत्तिरत्नाकर' व्याख्यासहिता ।**

सम्पादक : मुनि श्रीचन्द्रविजय गणि । प्रकाशक : रांदेर रोड जैन संघ, सूरत । ई. २००३ ।

'अभिधानचिन्तामणि' शब्दकोश विद्याजगतमां हैम कोष तरीके सुख्यात छे. ते पर आचार्यनी स्वोपज्ञ विस्तृत व्याख्या तो छे ज. परन्तु श्रीदेवसागर गणिए पाणिनि-व्याकरणने केन्द्रमां राखीने समग्र कोष पर व्युत्पत्तिदर्शक विस्तृत विवरण लख्युं छे, जे अद्यावधि अप्रकाशित हतुं, तेनुं सम्पादन अहीं थयुं छे. सम्पादके पोताना निवेदनमां नोंध्युं छे ते प्रमाणे परिशिष्टात्मक बीजो भाग हवे पछी प्रगट थवानो छे. आ ग्रन्थमां पण अमुक परिशिष्टो तो छेज.

—x—

विज्ञप्ति

श्री मोहनलाल दलीचंद देसाईना "जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास"नुं पुनः प्रकाशन थई रह्युं छे. आमां पाछळ आपेल शुद्धि-वृद्धि ते ते स्थळे जोडी देवामां आवशे. अने शुद्धि-वृद्धिनां विशेषनामोने शब्द-सूचिमां जोडवामां आवशे. आ बाबत विद्वानोनां सूचनो आवकार्य छे. नीचेना स्थळे आपनो अभिप्राय मोकलशो.

आ. विजय मुनिचन्द्रसूरि

यश मोटर्स

१३८७/१, मुखीवास, मीठाखलीगाम, अमदावाद-३८०००९

फोन : (ओ.) ६४२५०७१ (रे.) ६६०९६३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक स्पष्टता

प्रा. रसीला कडिया

अनुसन्धानना पूर्व-अंकोमां प्रसिद्ध थयेल, मारा द्वारा सम्पादित कृतिओ – १. कोठारीपोळ श्रीचन्तामणि पार्श्वनाथ स्तवन, २. श्रीबलभद्र मुनि सज्झाय, ३. श्री रतनगुरु रास-आ त्रणनी हस्तप्रतिओ मने अमदावादना ला.द.विद्यामन्दिरना संग्रहनां त्रूटक पुस्तकोमांथी प्राप्त थई हती, ते सुज्ञ वाचकोनी जाण सारु.

बीजुं 'चोबारो' शब्द प्रत्ये ध्यान खेंचवा बदल मुनिश्री भुवनचन्द्रजीनी ऋणी छुं. आजे पण ते चिन्तामणि पार्श्व-जिनालय चार द्वारवाळुं ज छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहिती

ब्रिटननी ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटीना ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूटमां हिन्दीना व्याख्याता, हंगेरीना प्रोफेसर डॉ. इम्रे बंघा (Dr. Imre Bangha) ए वृन्दावनना भक्त-कवि आनन्दघनना जीवनवृत्तनो ग्रन्थ "सनेह को मारग" (ई. १९९९, दिल्ली) तो आप्यो ज छे. हवे तेओ जैन कवि अवधू आनन्दघननी कविता विशे एक ग्रन्थ तैयार करी रह्या होवाना समाचार छे. तेनी सामान्य विगत आ प्रमाणे छे : The Songs of Anandaghan : Rajasthani Gujarati Jaina Poetry From the Seventeenth Century. (Introduction and English translation in Cooperation with Richard Fynes). 2003.

"सनेहको मारग"मां पण तेमणे अवधू आनन्दघन विषे विस्तृत नोंध आपी छे.

ई. २००१ मां सूरतमां "अवधू आनन्दघननी शब्दचेतना" विषे एक द्विदिवसीय संगोष्ठीनुं आयोजन थयुं हतुं, ते प्रसंगे योजायेल रात्रि-कार्यक्रममां आनन्दघनजीनां त्रीसेक पदो संकीतबद्ध रजू करवामां आवेलां. ते पदोनुं स्टुडियो-रेकोर्डिंग वडोदराना संगीतरत्न श्रीजयदेव भोजकना संगीत-निर्देशनमां करवामां आव्युं छे. तेने "**आनन्दघन पदमाला**" शीर्षकथी चार भागमां C.D. तथा Cassettes रूपे प्रगट करवामां आवेल छे. चारे केसेटोमां गवायेलां पदोनी भूमिका तथा रसदर्शन आ. विजयशीलचन्द्रसूरिए लखेल छे, जे आकाशवाणी-उद्घोषकना कण्ठे बोलायेल छे. प्रकाशक तथा प्राप्तिस्थान : श्री भद्रंकरोदय शिक्षण ट्रस्ट, C/o. यशोभद्र शुभंकर ज्ञानशाला, महावीर सोसायटी, गोधरा (पंचमहाल, गुजरात) ३८९००१, आ प्रमाणे छे.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org